श्री योगेश्वर वाणी

नर जीवन सफल बनाने को 'योगेश्वरवाणी' पढ़ियेगा ।
फिर कर्म-भूमि में 'विमल' कर्म करने को आगे बढ़ियेगा ॥

रघुनन्दन शर्मा विमल

* श्रीयोगेश्वरवाणी *

(श्रीमद्भगवद्गीता का सारगर्भित पद्यात्मक प्रतिश्लोकी अनुवाद)

* सुललित छन्द में *

(भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के चरणों में सप्रेम समर्पित)



यह भेंट समर्पित पदकमलों में कृष्णचन्द्र यदुनन्दन के।
लो प्रभो! सुदामा के तंदुल हैं निष्किंचन रघुनन्दन के।।

अनुवादक:—

श्रीमद्भागवत एवं भगवद्गीता के मनीषी विद्वान् कवि

पं० रघुनन्दन शर्मा 'विमल'

प्रकाशक :—
शिव साहित्य सदन,
२४४१, बेलारोड देहली ६ ।

मुद्रक :—
रघु प्रेस, जोगीवाड़ा, नई सड़क देहली ।

गङ्गा दशहरा] प्रथम बार १००० [मूल्य १ रुपया

* श्री: *

आमुख

भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है। अन्य देशों में अर्थ और काम की प्रधानता है। जहाँ अर्थ और काम की प्रधानता होगी—वहाँ शिल्प-वाणिज्य और राजनैतिक चर्चायें प्रधान रहेंगी, क्योंकि इन के द्वारा ही अर्थ और काम की सिद्धि होती है। धर्म की प्रधानता के कारण केवल भारत में ही वर्ण-व्यवस्था का प्रचार है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारों पदार्थ प्राप्त कर लेना वर्ण-व्यवस्था का प्रयोजन है। अर्थ और काम से इस लोक तथा धर्म और मोक्ष से पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है। इस लोक और परलोक दोनों की सिद्धि करने वाला धर्म है। 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'—इस धर्मलक्षण में यही बात कही गई है। शूद्र शिल्प द्वारा नवीन वस्तु निर्माण करके धनोपार्जन करें, वैश्य वाणिज्य और क्षत्रिय इनकी रक्षा करके अर्थ और काम की प्राप्ति में संलग्न हों, पर इसमें इस लोक के सुखकारी प्रयोजन हैं। परलोक के सुख के साधन धर्म और मोक्ष के प्रचार के लिए ब्राह्मण वर्ण की व्यवस्था है। यह वर्ण भारतवर्ष में ही है, क्योंकि अध्यात्म की चर्चा भारत की ही विशेषता है। ब्राह्मण, चौकीदार की तरह घूम-घूम कर धर्म के प्रति सबको सचेत करता रहे—यही ब्राह्मण का मुख्य कर्तव्य है।

भारतवर्ष जब कभी अपने लक्ष्य को भूला—तभी वह संकट में फंस गया। आपसी फूट और आलस्य के कारण भारत मुसलमानों के अधीन हो गया, पर इस समय भी इसने अपने

अध्यात्म से मुख नहीं मोड़ा। धर्म के आश्रय से ही १०००–८०० सौ वर्षों में मुसलमानों को अपना मुख मोड़ना पड़ा तथा इसलाम अन्य देशों की तरह भारतीय धर्म व्यवस्था को चकनाचूर न कर सका, किन्तु भारत में उसको स्वयं अपना रंग बदलना पड़ा।

अभी अधिक दिन की बात नहीं है। हमारा सारा शिल्प नष्ट हो चुका था, खिलौने तक जापान से बनकर आते थे। व्यापारी केवल विदेशी व्यापारियों के दलाल रह गये थे। राज्य शासन छिन चुका था, अंग्रेज़ों के हाथों में पहुँच गया था, पर हमने अपनी आध्यात्मकता न छोड़ी। हम वेद, उपनिषद्, गीता, महाभारत और रामायण आदि को छाती से चिपटा कर कष्ट झेलते रहे—जिससे हम अपने प्राणों की ही रक्षा नहीं—भारत राष्ट्र के प्राण धर्म की भी रक्षा करते रहे। यह सब कुछ तपोनिष्ठ त्यागी ब्राह्मणों की कृपा का ही फल है।

भारतीय धार्मिक साहित्य में श्रीमद्भगवद्गीता एक चमचमाता कोहनूर हीरा है। इसके प्रकाश से सारा विश्व चमचमा उठा और आशा है कि आगे भी चमचमाता रहेगा।

श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थ संस्कृत भाषा में है, किन्तु अंग्रेज़ी, फ्रैंच, रूसी, चीनी आदि विश्व की समस्त समृद्ध भाषाओं में इसके अनुवाद हो चुके हैं। इन भाषाओं के ज्ञाता इन अनुवादों से जो धर्म लाभ कर रहे हैं—वह अध्ययनशील पाठकों से छुपा हुआ नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता ने विश्व को जो अध्यात्मवाद का संदेश दिया है—वह एक भारतवर्ष की विश्व को अनुपम देन है।

हिन्दी राष्ट्रभाषा में भी इस ग्रन्थ रत्न के अनेक अनुवाद हुए। संस्कृत के नहीं जानने वालों को इससे अनुपम लाभ भी हुआ, पर भारत के धर्म प्रचारक ब्राह्मण इस ग्रन्थ रत्न का और भी प्रचार चाहते हैं। प्रचार के लिए सबसे श्रेष्ठ प्रकार गद्य की अपेक्षा पद्य माना गया है, इसी कारण विद्वानों ने गीता का अनुवाद पद्यों में आरम्भ किया। सरस पद्य गान से श्रोता पर जो प्रभाव पड़ता है—वह असाधारण होता है।

काव्य रचना सरल कार्य नहीं है। केवल पद्य बना कर कवि कहलाना असम्भव है। केवल पद जोड़ जाड़ कर नीरस पद्य गान कर बैठना गीता के प्रधान प्रभाव को लुप्त कर देना प्रच्छन्न अक्षम्य पाप है, जिससे बचना प्रत्येक धर्मसेवी का प्रथम कर्तव्य है।

श्री पं० रघुनन्दन शर्मा 'विमल' एक त्यागी ब्राह्मण है। उन की अन्तःकरण की प्रेरणा का प्रतीक यह श्रीमद्भगवद्गीता का पद्यानुवाद है। उनकी यह न कोई दुकानदारी है और न यह कार्य धनोपार्जन का कोई ढोंग है। वे तो अपना समय और धन का व्यय करके धर्म की सेवा तथा अपने ब्राह्मण कर्तव्य का निदर्शन संसार के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
गीता अ. २ श्लोक ४७

श्रीमद्भगवद्गीता के इस श्लोक में कर्मयोग की चतुःसूत्री का उल्लेख है। इसका अनुवाद करते हुए पण्डितजी लिखते हैं-

अधिकार कर्म में ही तेरा बस ? फल से नाता तोड़ अभी।
तू त्याग वासना कर्मफलों की किन्तु कर्म मत छोड़ कभी॥

इसके अभी और कभी पदों में सिद्धान्त निदर्शन का स्वारस्य भरा पड़ा है। इस अनुवाद को यदि हारमोनियम पर कथावाचक गान विधि से गावेगा—तो निश्चय है कि गीता के प्रचार में बहुत सुलभता हो जावेगी। छोटे से पद्य रूपी गागर में सिद्धान्त रूपी सूक्तियों का सागर भर दिया है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः॥
गीता अ. १८ श्लोक ६६

यह गीता का श्लोक क्या है, मन्त्र है। इसका अनुवाद देखिए—

तज कर सब धर्म एक मेरी ही तात! शरण में आ जाओ।
मैं तुम्हें सभी पापों से शीघ्र छुड़ा दूंगा मत घबराओ॥

हम श्री पं० रघुनन्दन जी कृत इस गीता पद्यानुवाद का स्वागत करते हैं और जनता से साग्रह निवेदन करते हैं—कि वह इस पद्यानुवाद को अपना कर पडित जी की धर्म सेवा के प्रति कृतज्ञता प्रकट करें।

महाभारत टीकाकार
पं० गङ्गाप्रसाद शास्त्री
दिल्ली.


Artist,

गीता माहात्म्य

१

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्द वसुदेवदेवकीनन्दन श्याम।
हे कंसमृत्यु चाणूर निकंदन जगद्गुरू देवेश ! प्रणाम ।।

२

श्रीव्यास मुनीश्वर कवि-रवि का फैला शुचि दिव्य प्रकाश जहाँ।
मुझ लघु खद्योत मन्दमति का केवल उपहास प्रयास यहाँ ।।

३

सब उपनिषद् गऊ हैं, ग्वाल दूहने वाले स्वयं कृष्ण गोपाल।
प्रिय गीता-अमृत-दूध पीता है अर्जुन-वत्स सुबुद्धि विशाल ।।

४

अर्जुन से वर्णन करीं आप भगवान् कृष्ण जगदीश्वर ने।
तुम गूथीं बीच महाभारत के वेदव्यास मुनीश्वर ने ।।
भव-भय-हारिणि ! अध्याय अठारह पढ़कर मनन करूँ दिन रात।
अद्वैत अमृत - वर्षाने वाली वन्दन भगवद्गीते मात !।।

५

जो नर तुझ को भव-सागर सुख से करना हो यदि पार कभी।
तब गीता नैया पर चढ़िये पर तजिये दुर्गुण मित्र सभी ।।

६

गीता ही शुद्ध सनातन धर्मों का करती संचार सही।
वेदान्त सार श्रुति उपनिषदों का पारावार अपार यही ।।

७

नित गाते जहाँ प्रेम से मिलकर गीता गीत पुनीत सुजान।
हरि आते वहीं नन्दनन्दन श्रीमाधव स्वयं कृष्ण भगवान॥

८

"योगेश्वरवाणी" गीता जो पढ़ते सुनते व सुनाते हैं।
करके भव सागर पार वही, नर श्रेष्ठ परम पद पाते हैं॥

९

श्रीपरमानन्द प्रणाम रमाधव कृपादृष्टि जब हो भगवान्।
तब मूक बनें वाचाल पंगु भी चढ़े फिरें गिरि-शिखर महान्॥

१०

श्रीकृष्णचन्द्र यदुनन्दन का यह दिव्य ज्ञानमय विमल प्रकाश।
है सूर्य जहाँ असमर्थ उसी अज्ञान-तिमिर का करे विनाश॥

११

तजें दोष सद्गुण गहें शुचि बुध कवि अवतंस।
जैसे तजकर नीर को क्षीर गहें शुचि हंस॥

* ॐ *

।। श्रीगणेशाय नमः ।।

* श्रीयोगेश्वराय नमः *

❀ श्रीयोगेश्वरवाणी ❀

पहला अध्याय

धृतराष्ट्र ने पूछा— (धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे……१)

श्रीधर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में रणहित एकत्र हुए सारे।
मेरे सुत और पांडवों ने क्या किया कहो संजय प्यारे ।।

संजय ने कहा— (दृष्ट्वा तु पांडवानीकम्……२)

नृप निरख पांडवों की सेना, रचना थी व्यूहमयी जिसकी।
आचार्य निकट नृप जाकर यों बोला दुर्योधन जड़ विष की ।।

(पश्यैतां पांडुपुत्राणाम्……३)

आचार्य देखिये पांडु-पुत्र-सेना यह कितनी भारी है।
जो द्रुपद-पुत्र तव सुमति शिष्य ने व्यूह-रचन विस्तारी है ।।

(अत्र शूरामहेष्वासाः……४)

रण-शूर भीम से अर्जुन से, बहु सुभट महान् धनुष धारे।
युयुधान विराट् द्रुपद जैसे, भट वीर महारथ हैं सारे ।।

(धृष्टकेतुश्चेकितान……५)

भट धृष्टकेतु नृप चेकितान, वह काशिराज वीरेन्द्र बड़े।
नृप कुन्तिभोज पुरुजित् जैसे भट शैव्य बली तैयार खड़े ।।

(युधामन्युश्च विक्रान्तः……६)

हैं युधामन्यु बलवान् परम रणधीर उत्तमौजा जैसे।
अभिमन्यु तथैव द्रौपदी-सुत—पाँचों ही महारथी ऐसे॥

(अस्माकं तु विशिष्टा ये……७)

गुरु मुख्य मुख्य मम सेना के नायक हैं जो जो बड़े बड़े।
गुरुदेव ! सुनो बतलाता हूँ जितने भी सेना बीच खड़े॥

(भवान्भीष्मश्च कर्णश्च……८)

गुरु आप और श्रीभीष्म, कर्ण, रणविजयी कृपाचार्य बलवान्।
श्रीअश्वत्थामा, विकर्ण, रणपटु एवं भूरिश्रवा महान्॥

(अन्ये च बहवः शूराः……९)

तज जीवन-आशा मेरे हित, रणशूर और भी बड़े बड़े।
शस्त्रास्त्र लिये सब युद्ध-निपुण, रणसाज सजे तैयार खड़े॥

(अपर्याप्तं तदस्माकम्……१०)

श्रीभीष्मपितामह से रक्षित, यों अपर्याप्त है दल अपना।
वह भीमसेन से रक्षित है, यों इनका दल पर्याप्त बना॥

(अयनेषु च सर्वेषु……११)

इससे संपूर्ण मोरचों पर, भट नियत यथोचित करें अभी।
प्रभु चहूँ ओर से आप भीष्म की रक्षा मिलकर करें सभी॥

(तस्य संजनयन्हर्षम्……१२)

तब करते हुए नृपति मन हर्षित वृद्ध पितामह भीष्म महान्।
निज शंख बजाने लगे तभी, कर घोर गर्जना सिंह समान॥

(ततः शंखाश्च भेर्यश्च……१३)

तब शंख महारणभेरी गोमुख ढोल नगारे आदि जहाँ।
जब सभी एकदम बजे, हुआ घनघोर भयंकर नाद वहाँ॥

(ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते……१४)

फिर श्वेत अश्वयुत महान् रथ पर बैठे दोनों वीर प्रधान।
श्रीकृष्ण व अर्जुन दोनों ही ने दिव्य शंख-ध्वनि करी महान्॥

(पांचजन्यं हृषीकेशो……१५)

निज पांचजन्य को कृष्ण, धनंजय देवदत्त को बजा उठे।
फिर भीम-कर्मकृत् भीमसेन भी, पौंड्रशंख निज गुँजा उठे॥

(अनन्तविजयं राजा……१६)

नृप कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने, स्व-अनन्तविजय का नाद किया।
मणिपुष्पक और सु-घोष शंख सहदेव नकुल ने बजा दिया॥

(काश्यश्च परमेश्वासः……१७)

वह काशीराज महाधनुधारी वीर शिखंडी सुभट महान्।
भट धृष्टद्युम्न विराट् व सात्यकि वीर अजेय सुभट बलवान्॥

(द्रुपदो द्रौपदेयाश्च……१८)

नृप द्रुपद द्रौपदीपुत्र बली, अभिमन्यु महाभुज वीर प्रधान।
चहुँ पृथक्-पृथक् निज-निज शंखों को बजा उठे भट वीर महान्॥

(सघोषोधार्त्तराष्ट्राणाम्……१९)

वह घोर शब्द धृतराष्ट्र-सुतों के हृदय चीरता हुआ तभी।
नभ और भूमि को गुँजा उठा, घनघोर नाद जो हुआ अभी॥

(अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा……२०)

रणसाज सजे कौरव-दल को, वह देख कपिध्वज वीर तभी।
जब शस्त्र-अस्त्र चलने को थे, ले धनुषबाण रणधीर तभी॥

(हृषीकेशं तदावाक्यम्……२१)

तब राजन्! अर्जुन हृषीकेश से यों बोले—हे कृष्ण गुरो!
हे भगवन्! दोनों दलों बीच, अच्युत! मेरा रथ खड़ा करो॥

(यावदेतान्निरीक्ष्येहम्······२२)

प्रभु जब तक उन्हें देख लूँ मैं, युद्धार्थ खड़े जो वीर यहाँ।
किन-किन से लड़ना है मुझ को, हैं कौन-कौन रणधीर यहाँ॥

(योत्स्यमानानवेक्ष्येहम्······२३)

देखूँ मैं उन सब वीरों को, युद्धार्थ जुड़े भट जितने हैं।
रण में दुर्मति—दुर्योधन का कल्याण चाहते कितने हैं॥

संजय बोले— (एवमुक्तो हृषीकेशो······२४)

यों गुडाकेश ने अपना मत जब हृषीकेश को सुना दिया।
तब उभय दलों के बीच कृष्ण ने रथ ले जाकर खड़ा किया॥

(भीष्मद्रोणप्रमुखतः······२५)

श्रीभीष्म द्रोण गुरु आदि सभी, नृप वीरों के सन्मुख जाकर।
एकत्र देख सब कौरव-दल यों कहा पार्थ को समझाकर॥

(तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः······२६)

तब पृथापुत्र ने वहाँ चचा दादादिक सभी खड़े देखे।
आचार्य पुत्र भाई मामा प्रिय पौत्र व मित्र बड़े देखे॥

(श्वसुरा सुहृदश्चैव······२७)

उस कुन्तीसुत ने ससुर सनेही नेह-पाश जकड़े देखे।
जब दोनों दलों बीच देखा प्रिय मित्र स्व-बंधु अड़े देखे॥

(कृपया परयाविष्टो······२८)

यों बंधु गणों को देख दया से पूर्ण हुए शोकाकुल भी।
बोले भगवन्! रण में लड़ने को खड़े देख निज बन्धु सभी॥

(सीदन्ति मम गात्राणि······२९)

मम अंग शिथिल होते जाते, मुख सूख रहा है दीन बड़ा।
प्रभु काँप रहा संपूर्ण गात, सारे तन में रोमांच खड़ा॥

(गांडीवं स्रंसते हस्तात्······३०)

गांडीव गिरा जाता कर से मेरा तन सभी जला जाता ।
मैं खड़ा नहीं अब रह सकता मन अधीर होकर घबराता ॥

(निमित्तानि च पश्यामि······३१)

केशव ! मुझ को तो दीख रहे हैं लक्षण ही विपरीत सभी ।
रण में स्वजनों का वध करके मैं श्रेय देखता नहीं कभी ॥

(न कांक्षे विजयं कृष्ण······३२)

मुझको न विजय की इच्छा है यह कृष्ण राज्य सब व्यर्थ अहो ।
गोविन्द ! राज्य जीवन भोगों से लाभ हमें क्या कृष्ण ! कहो ॥

(येषामर्थेकांक्षितन्नो······३३)

जिनके हित राज्य भोग सुख की इच्छा थी हमको वही बड़े ।
अपने प्रिय-प्राण और धन की आशा तजकर सब यहीं खड़े ॥

(आचार्याः पितरः पुत्राः······३४)

आचार्य-वर्ग फिर चचा पितामह पुत्र पौत्र मामादिक भी ।
प्रिय साले ससुर सगे संबन्धी खड़े समर में यहीं सभी ॥

(एतान्न हन्तुमिच्छामि······३५)

क्या भूमि-राज्य की गिनती, यदि त्रैलोक्य राज्य भी मिले कहीं ।
मधुसूदन ! ये मारें मुझ को, तो भी इनका वध करूँ नहीं ॥

(निहत्यधार्त्तराष्ट्रान्न······३६)

धृतराष्ट्र-सुतों का वध करके क्या हर्ष जनार्दन ! हमें कहो ।
वध आततायियों का तो भी, क्यों पाप सीस पर धरें अहो ॥

(तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम्······३७)

जो बंधुगणों को मारें हम, माधव ! यह हमको उचित नहीं ।
क्या हम स्वजनों का वध करके भी रह पायेंगे सुखी कहीं ॥

(यद्यप्येते न पश्यंति······३८)

यद्यपि ये नहीं देखते, इनकी बुद्धि लोभ ने है मारी ।।
निज वंशनाशमय दोष, सुहृद्-जन-द्रोह पाप होता भारी ।।

(कथं न ज्ञेयमस्माभिः······३९)

कुलनाश जनित सब दोषों का, जब ज्ञान हमें सब भाँति सभी ।
फिर कहो जनार्दन ! इस अघ से बच लें पहले ही क्यों न अभी ।।

(कुलक्षये प्रणश्यन्ति······४०)

जब कुल का होता नाश सनातन धर्म कुलों के मिट जाते ।
कुल-धर्म नष्ट होते ही कुल में पाप अधर्म विजय पाते ।।

(अधर्माभिभवात्कृष्ण !······४१)

जब कृष्ण अधर्म पाप बढ़ता तब कुल की स्त्रियाँ बिगड़ती हैं ।
इनके बिगड़े पर वर्ण-संकरी सृष्टि कुलों में बढ़ती हैं ।।

(संकरो नरकायैव······४२)

संकर कुलयुत कुलघातक को, अतिघोर नरक में गेरेंगे ।
बिन तर्पण-पिंड पितर भी इनके पड़े नरक में टेरेंगे ।।

(दोषैरेतैःकुलघ्नानाम्······४३)

कुलघातक नर के वर्ण-सांकरीकारक ऐसे दोषों से ।
सब जाति व कुल के शुद्ध सनातन धर्म भागते कोसों से ।।

(उत्सन्न कुलधर्माणाम्······४४)

कुलधर्म जनार्दन ! जिन पुरुषों के नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ।
वे नित्य नरक में पड़ें सुना है सदा कष्ट ही पाते हैं ।।

(अहोबतमहत्पापम्······४५)

हम अहो ! आज यह घोर पाप ही करने को तैयार खड़े ।
जो राज्य सुखों के लोभ-वश्य हो, स्वजन घात के लिए अड़े ।।

(यदि मामप्रतिकारम्······४६)

निःशस्त्र मुझे यदि शस्त्र लिए धृतराष्ट्र-पुत्र मिलकर मारें।
यों मरकर भी कल्याण, किन्तु प्रतिकार न हम करना धारें॥

संजय बोले— (एवमुक्त्वाऽर्जुनसंख्ये······४७)

यों कहकर धनुष बाण तजकर अर्जुन होकर शोकाकुल से।
रण में रण से मुख मोड़ वहीं रथ पर बैठे हो व्याकुल से॥

॥ पहला अध्याय समाप्त हुआ॥

दूसरा अध्याय

संजय ने कहा— (तं तथा कृपयाविष्टम्······१)

यों दयाद्रवित दृग् नीरभरे थे शोक-विकल अर्जुन भोले।
हरि देख तभी यों नीतिनिपुण मधुसूदन प्रीतिवचन बोले॥

श्रीभगवान् ने कहा—(कुतस्त्वा कश्मलमिदम्······२)

हैं यह अज्ञान तुम्हें अर्जुन! रण-संकट में कैसे छाया।
यह क्षुद्र अनार्यों को भाया प्रिय स्वर्ग कीर्त्ति खोने आया॥

(क्लैब्यं मास्मगमः पार्थ!······३)

इस कायरता में मत पड़िये यह पार्थ! तुम्हारे योग्य नहीं।
यह क्षुद्र हृदय का कायरपन, तज उठो परंतप! शीघ्र यहीं॥

अर्जुन ने कहा— (कथं भीष्ममहं संख्ये······४)

श्रीभीष्म व द्रोणाचार्य अहो! मधुसूदन! मेरे पूज्य-प्रधान।
हाः रण में इन पर कैसे छोड़ूँगा अरिसूदन! बाण महान्॥

(गुरूनहत्त्वा हि महानुभावान्······५)

इन महानुभावों गुरुओं का, वध करना उचित नहीं भगवान्,
इससे तो जग में भीख माँगकर खाना भी अतिश्रेष्ठ महान्।
हे कृष्ण! लोभवश गुरूजनों का, वध करके जग में स्वामी;
धन, राज्य भोग सुख रुधिर सने ही भोगूँगा अन्तर्यामी॥

(नचैतद्विद्मकतरन्नोगरीयो······६)

क्या करना श्रेष्ठ यहाँ हम को, हे कृष्ण! हमें यह ज्ञात नहीं,
फिर यह भी निश्चय नहीं, उन्हें हम जीतें या वे हमें कहीं॥
प्रभु जीवित नहीं रहा चाहें, हम जिन्हें मारकर अहो कभी।
धृतराष्ट्र-पुत्र वे कौरव रण में, अड़े सामने खड़े सभी॥

(कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः······७)

हरि! कायरता के पूर्ण दोष ने क्षत्रिय-भाव मिटाया है,
मैं धर्म विषै मतिमूढ हुआ मन में अतिशय भ्रम छाया है।
निश्चय कर कहिये मुझे जोकि—कल्याण विधायक कर्म वही;
मैं शिष्य आपका शरणागत, शिक्षा-हित कहिये धर्म सही॥

(नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्······८)

इस जग में ऐसा कोई साधन मुझे दीखता नहीं प्रभो!
जो मेट सके मेरा यह इन्द्रिय शोषणकारी शोक विभो!
धन-धान्यपूर्ण सारी वसुधा का, राज्य अकंटक भी पाऊँ।
सब देवगणों के ऊपर चाहे शासक भी मैं हो जाऊँ॥

संजय बोले— (एवमुक्त्वा हृषीकेशम्······९)

यों हृषीकेश को दुखित परंतप गुडाकेश ने वचन कहे।
गोविन्द! "युद्ध मैं नहीं करूँ" यों कहकर चुप हो बैठ रहे॥

(तमुवाच हृषीकेशः······१०)

तब उभय दलों के बीच पार्थ को खिन्न देख दुख के मारे।
कुछ हँसते हुए हृषीकेश यों कहने लगे सुनो प्यारे॥

(अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्……११)

बातें करता है विज्ञों जैसी फिर अशोच्य का सोच करे।
सुन जीवित और मरों को पंडित नहीं सोचते ज्ञानभरे॥

(नत्वेवाहं जातु नाऽसं……१२)

प्रिय मैं तू और सभी ये नृप-गण, पूर्व नहीं थे क्या सारे।
सुन यह भी नहिं हो सकता, हम सब फिर न कहीं होंगे प्यारे॥

(देहिनोऽस्मिन् यथा देहे……१३)

ज्यों बचपन यौवन वृद्धपना नर के इस तन में आते हैं।
त्यों जीव और तन धरे धीर जन मोहित नहिं हो पाते हैं।

(मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय !……१४)

कुन्तीसुत ! शीत उष्णवत् ये सुख-दुःखद इन्द्रिय भोग अहो !
ये भारत ! नित्यविनाशी आते जाते हैं नित इन्हें सहो॥

(यं हि न व्यथयंत्येते……१५)

जिसको ये व्यथा नहीं देते नरश्रेष्ठ ! वही नर धीर कहा।
फिर वही मोक्षभागी बनता कि—जिसे सुख-दुःख समान महा॥

(नासतोविद्यतेभावो……१६)

वह रहता नहीं असत् जो है, सत् का अभाव भी पार्थ ! नहीं।
विज्ञों ने इनका अन्त देख, यों निर्णय किया यथार्थ यहीं॥

(अविनाशितुतद्विद्धि……१७)

जिससे सारा जग व्याप्त हुआ, अविनाशि उसे जानो प्यारे।
उस अव्यय का नाशक फिर कोई कहीं नहीं मानो प्यारे॥

(अन्तवन्त इमे देहाः……१८)

इस अप्रमेय जीवात्मा का यह देह सदैव विनाशी है।
सो उठकर युद्ध करो भारत ! यह जीव नित्य अविनाशी है॥

(य एनं वेत्तिहंतारम्······१९)

जो इसे मारने वाला अथवा मरने वाला मान रहे।
यह जीव मारता मरता नहिं ये दोनों ही अनजान रहे॥

(न जायते म्रियते वा कदाचित्······२०)

नहिं लेता जन्म न मरता है, अब होकर फिर जन्मे न कहीं।
अज नित्य पुरातन शाश्वत है, यह देह वधे पर मरे नहीं॥

(वेदाविनाशिनं नित्यम्······२१)

जो नर अविनाशी अज अव्यय यह नित्य जानता नित्य इसे।
क्या कहो किसी का घात कराता, कैसे वह वध करे किसे॥

(वासांसि जीर्णानि यथा विहाय······२२)

ज्यों वस्त्र पुराने तजकर नर, नव वस्त्र धारता जाता है।
यों ही यह जीव जीर्ण तन तज, नव देह धारता पाता है॥

(नैनं छिंदन्तिशस्त्राणि······२३)

नहिं शस्त्र काट सकते इसको, पावक भी जला नहीं सकता।
फिर पवन सुखा न सके आत्मा को, जल भी गला नहीं सकता॥

(अच्छेद्योयमदाह्योयम्······२४)

कटता जलता गलता न कहीं, यह जीव सूखता कभी नहीं।
थिर नित्य सनातन निश्चल है, सबमें व्यापक है सभी कहीं॥

(अव्यक्तोयमचिन्त्योयम्······२५)

है जीव सूक्ष्म अव्यक्त क्योंकि—इन्द्रिय मन का भी विषय नहीं।
इसको अविकार समझकर प्यारे व्यर्थ शोक मत करो कहीं॥

(अथचैनंनित्यजातम्······२६)

यदि यही जानते हो इसको यह नित्य जन्मता मरता है।
हाँ तदपि महाबाहो! इसका तू व्यर्थ शोच क्यों करता है॥

(जातस्यहि ध्रुवोमृत्यु:······२७)

जो जन्मा निश्चय मरता है, मर फिर जन्मे यह निश्चय बात।
जब यह सिद्धान्त अटल है, तब तुम व्यर्थ शोच करते हो तात॥

(अव्यक्तादीनि भूतानि······२८)

सुन आदि अन्त में सभी जीव अव्यक्त रूप में ही होते।
जब बीच-बीच में व्यक्त रहें, तब चिन्तित हो नर क्यों रोते॥

(आश्चर्यवतपश्यतिकश्चिदेनम्······२९)

कोई इसको आश्चर्य-तुल्य ही, देख रहा मानव विद्वान्,
कोई इस आत्मा को कहता, आश्चर्यसमान पुरुष मतिमान्।
कोई इसको आश्चर्य सदृश सुनकर करता आश्चर्य महान्;
सुनकर भी जान न पाता कोई, विज्ञ इसे अनभिज्ञ समान॥

(देही नित्यमवध्योयम्······३०)

भारत ! सबके तन में यह आत्मा, "अमर" अवध्य न वध होता।
अतएव प्राणियों का अर्जुन ! तज शोक शीघ्र उठ क्यों रोता॥

(स्वधर्ममपिचावेक्ष्य······३१)

निज धर्म देखते हुए तुम्हें, निज धैर्य तोड़ना उचित नहीं।
इस धर्म-युद्ध से बढ़कर क्या ? क्षत्रिय का दूजा धर्म कहीं॥

(यदृच्छया चोपपन्नम्······३२)

यह खुला तुम्हारे लिए स्वयं रण-रूप स्वर्ग का द्वार अभी।
यह पार्थ ! भाग्यशाली क्षत्रिय को, मिलता अवसर कभी-कभी॥

(अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम्······३३)

यह धर्म-रूप संग्राम कहीं यदि नहीं किया तुमने प्यारे।
निज धर्म और सत्कीर्त्ति मिटे, फिर पाप पूर्ण जीवन हारे॥

(अकीर्त्तिचापि भूतानि······३४)

ये सभी लोग अपकीर्त्ति तुम्हारी, बहुत कहेंगे अभी यहीं।
संभावित को अपयश जग में, मरने से भी है अधिक कहीं॥

(भयाद्रणादुपरतम्······३५)

भय से रण छोड़ भगा अर्जुन, सब महारथी यह जानेंगे।
प्रिय ! बहुत मान पाया था जिनसे, तुच्छ वही अब मानेंगे॥

(अवाच्यवादांश्च बहून्······३६)

फिर अनुचित उचित कहेंगे सब कुछ, तुम्हें शत्रु गण सभी यहीं।
सामर्थ्यवान की निन्दा हो, इससे बढ़कर क्या दुःख कहीं॥

(हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्······३७)

यदि मरे समर में स्वर्ग मिले, फिर विजय किया तो भोग मही।
इस हेतु उठो कौन्तेय ! जुटो, रण में दृढ़ निश्चय किये यही॥

(सुखदुःखे समे कृत्वा······३८)

सब सुख दुख लाभ अलाभ मान सम विजय पराजय एक समान।
फिर युद्ध करो इस भाँति तुम्हें, कुछ पाप न होगा निश्चय जान॥

(एषातेऽभिहितासांख्ये······३९)

यह सांख्य-योग का ज्ञान कहा, शुभ कर्म-योग भी सुनो अभी।
जिसके बल से कर्मों के बंधन काट सकोगे बंधु सभी॥

(नेहाभिक्रमनाशोस्ति······४०)

आरंभ विनाश नहीं इसमें फल दोष-रूप भय विघ्न नहीं।
इस श्रेष्ठ धर्म का थोड़ा भी साधन हरता भय घोर यहीं॥

(व्यवसायात्मिकाबुद्धि······४१)

इस पथ में बुद्धि निश्चयात्मक कुरुनन्दन ! होती एक सही।
हाँ विविध बुद्धियाँ विविध भाँति की अज्ञों की होतीं नित ही॥

(यामिमां पुष्पितां वाचम्······४२)

जो वेदवाद-रत अज्ञ पुरुष हैं, काम-भोग-आसक्त हुए।
कहते इससे बढ़ और न कुछ, यों स्वर्ग-कामनारक्त हुए॥

(कामात्मानः स्वर्गपराः······४३)

वे स्वर्ग-लालसी, जन्म-कर्म फल देने को नित खड़ी हुई।
जो विविध क्रियाओं से केवल ऐश्वर्य-भोग हित बढ़ी हुई॥

(भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्······४४)

वे उस वाणी से मोहित हो, ऐश्वर्य भोग में रत सारे।
उनकी व्यवसाय बुद्धि अर्जुन! होती न समाधिस्थित प्यारे॥

(त्रैगुण्यविषया वेदाः······४५)

है त्रिगुण-विषय ही वेदों में, तुम गुणातीत गुणवान् बनो।
तज द्वंद्व व योगक्षेम नित्य सत्त्वस्थ व आत्मावान् बनो॥

(यावानर्थ उदपाने······४६)

ज्यों पूर्ण जलाशय को पाकर छोटे से जितना अर्थ रहे।
यों पूर्ण ब्रह्मविद ब्राह्मण को, वेदों से उतना अर्थ रहे॥

(कर्मण्येवाधिकारस्ते······४७)

अधिकार कर्म में ही तेरा, बस फल से नाता तोड़ अभी।
तू त्याग वासना कर्मफलों की, किन्तु कर्म मत छोड़ कभी॥

(योगस्थः कुरु कर्माणि······४८)

योगस्थ हुए तुम कर्म करो, आसक्ति धनंजय! छोड़ महा।
कर सिद्धि-असिद्धि समान यही, समता ही योग महान् कहा॥

(दूरेणह्यवरं कर्म······४९)

इस समता-बुद्धियोग से सारे, कर्म धनंजय! तुच्छ महान्।
तुम बुद्धियोग की शरण गहो, फल इच्छुक नर हैं दीन समान॥

(बुद्धियुक्तोजहातीह······५०)

समबुद्धियुक्त नर पुण्य-पाप दोनों ही को तजकर जाता।
अतएव योग में लगो, योग ही कर्मों में कौशल भ्राता॥

(कर्मजं बुद्धियुक्ताहि······५१)

नर बुद्धि-युक्त होकर तजते सब कर्मों का फल-विज्ञ सदा।
हो मुक्त जन्म-बंधन से पाते मुक्ति वही सर्वज्ञ सदा॥

(यदाते मोह कलिलम्······५२)

इस मोह-रूप दल-दल को तेरी बुद्धि तरेगी जबकि कभी।
वैराग्य प्राप्त होगा सुनने व सुने विषयों में तुझे तभी॥

(श्रुतिविप्रतिपन्नास्ते······५३)

श्रुति-भ्रमित-बुद्धि तेरी सुस्थिर, निश्चल ठहरेगी तात जभी।
नित लगे समाधि-योग में, समता-योग मिलेगा तुझे तभी॥

अर्जुन ने कहा— (स्थितप्रज्ञस्य का भाषा......५४)

केशव ! स्थित-प्रज्ञ समाधि-स्थित नरके क्या लक्षण होते हैं।
किस भाँति बोलते चलते वे किस भाँति बैठते सोते हैं॥

श्रीभगवान् बोले— (प्रजहाति यदाकामान्······५५)

जब सभी कामनाएँ मन की, नर पार्थ ! दूर तज पाता है।
हो आत्मा में संतुष्ट स्वयं, स्थिर-प्रज्ञ तभी कहलाता है॥

(दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः······५६)

दुख में न कभी घबराता जो, सुख में भी नहीं लुभाता है।
जो क्रोध राग भय तजता मुनि थिरबुद्धि वही कहलाता है॥

(यः सर्वत्रानभिस्नेहः······५७)

जो शुभ या अशुभ मिले कुछ भी, उनसे न प्रसन्न न रोता है।
जो स्नेह-रहित सर्वत्र सदा, स्थिर-बुद्धि वही नर होता है॥

(यदा संहरतेचायम्······५८)

ज्यों कछुआ सकोड़ लेता है, चहुँ से अपने सब अंग सही।
यों सभी इन्द्रियाँ जो नर मोड़े, विषयों से स्थिर-बुद्धि वही॥

(विषयाविनिवर्त्तन्ते······५९)

आहार छोड़ते ही नर का, सब विषय-जाल कट जाता है।
पर राग बना रहता है, वह भी ब्रह्म मिले हट जाता है॥

(यततोह्यपिकौन्तेय !······६०)

कौन्तेय ! यत्न करते-करते भी, झट से मन हर लेती हैं।
ये बुध को भी बलवान इन्द्रियाँ, हठ से वश कर लेती हैं॥

(तानि सर्वाणि संयम्य······६१)

जो सभी इन्द्रियाँ संयम कर, योगी मुझ में ही सक्त हुआ।
जिसके कि इन्द्रियाँ वश में हों, स्थिर-बुद्धि वही मद्भक्त हुआ॥

(ध्यायतो विषयान्पुंस:······६२)

नित विषयों का चिंतन मानव को, विषयासक्ति बढ़ाता है।
आसक्ति बढ़े कि—कामना उपजे, काम क्रोध उपजाता है॥

(क्रोधाद्भवतिसंमोह:······६३)

उस क्रोधभाव से मोह बने, अविवेक हुए स्मृति भ्रष्ट सदा।
स्मृति-भ्रमित हुए पर बुद्धिनशे, मति के विनशे हो नष्ट सदा॥

(राग द्वेष वियुक्तैस्तु······६४)

पर सभी इन्द्रियाँ राग द्वेष से रहित और स्वाधीन किये।
नर विषय भोगकर भी रहता है स्वच्छ प्रसन्न स्वभाव लिये॥

(प्रसादे सर्वदु:खानाम्······६५)

इस मन के प्रसन्न होते ही फिर दु:ख दूर होते सारे।
जब मन निर्मल हो जाता है थिर बुद्धि तभी होती प्यारे॥

(नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य……६६)

सद्बुद्धि न हो बिन युक्त हुए नहिं शुद्ध भावना बने यहाँ।
बिन शुद्धभावना शान्ति नहीं बिन शान्ति मिले सुख किसे कहाँ॥

(इन्द्रियाणां हि चरताम्……६७)

विषयाटनशील इन्द्रियों में, मन जिस इन्द्रिय का साथ करे।
वह बुद्धि हरे इसकी जैसे जल में नौका को वायु हरे॥

(तस्माद्यस्य महाबाहो……६८)

इन्द्रिय-विषयों से रोक इन्द्रियाँ, स्व-वशकरीं जिसने सारी।
चहुँ से सब भाँति महाबाहो! स्थित-प्रज्ञ वही सबसे भारी।

(या निशा सर्वभूतानाम्……६९)

जो सब जीवों की रात वहाँ पर सदा जागता है ज्ञानी।
वह रात संयमी की जिसमें, सब जीव जागते अज्ञानी॥

(आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्……७०)

जैसे परिपूर्ण अचल सागर में इत-उत से जलवेग सभी,
प्रिय आकर नित्य समाते पर विचलित नहिं होता सिंधु कभी।
यों ही संपूर्ण विषय जिस जन में आकर नित्य समा जाते;
सत् शान्ति वही नर पाता है, नर भोग-लालसी नहिं पाते॥

(विहाय कामान् यः सर्वान्……७१)

जो सर्वकामना तजकर निस्पृह हुआ विचरता जाता है।
फिर ममता अहंकार छोड़े, दृढ़ शान्ति वही नर पाता है॥

(एषा ब्राह्मीस्थिति पार्थ!……७२)

हे पार्थ! यही ब्राह्मीस्थिति है, इसको पा मोह नहीं पाता।
तू अन्त समय भी ठैर इसी में, बुध जन मोक्ष यहीं पाता॥

॥ दूसरा अध्याय समाप्त हुआ॥

तीसरा अध्याय

अर्जुन ने पूछा— (ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते······१)

यदि आप जनार्दन ! कर्मयोग से, ज्ञान श्रेष्ठतर मान रहे।
तब क्यों इस घोर कर्म में केशव ! मुझे लगाना ठान रहे॥

(व्यामिश्रेणेव वाक्येन······२)

कह जटिल वचन भ्रम-से में मेरी बुद्धि भुलाते हो भगवान्।
कहिये दृढ़निश्चय एक वही, जिससे हो मेरा श्रेय महान्॥

श्रीभगवान् ने कहा—(लोकेऽस्मिन्द्विविधानिष्ठा······३)

सुन मैंने कहीं पूर्व दो निष्ठा, पहिली ज्ञान-योग से जान।
वह ज्ञानी की, फिर योगी की, निष्काम सु-कर्मयोग से मान॥

(न कर्मणामनारम्भात्······४)

नर कर्मों के आरम्भ किये बिन ही निष्कर्म न हो जाता।
फिर कर्मों ही के तजने पर भी मानव सिद्धि नहीं पाता॥

(न हि कश्चित्क्षणमपि······५)

बिन कर्म किये कोई भी नर क्षणमात्र नहीं रह पाता है।
सब कर्म प्रकृतिगुण-वश हो करने पड़ते क्यों सकुचाता है॥

(कर्मेन्द्रियाणि संयम्य······६)

जो कर्म-इन्द्रियाँ रोक किन्तु मन में विषयों को ध्याता है।
वह मूढ़-बुद्धि नर दंभी ढोंगी पाखंडी कहलाता है॥

(यस्त्विन्द्रियाणि मनसा······७)

मन से इन्द्रिय-गण वश में करके, अनासक्त हो सदैव ही।
जो कर्म-इन्द्रियों से नित करता "कर्मयोग" नर श्रेष्ठ वही॥

(नियतं कुरु कर्म त्वम्……८)

इस कर्म न करने से अच्छा है, नियत कर्म करना दिन-रात।
बिन कर्म किये निर्वाह देह का यह भी सिद्ध नहीं हो तात॥

(यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र……९)

यज्ञार्थ कर्म बिन जितने भी हैं कर्म सभी बंधन करते।
आसक्ति रहित कौन्तेय ! कर्म यज्ञार्थ करो तुम क्यों डरते॥

(सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा……१०)

रच यज्ञ समेत प्रजा पहिले विधि ने उससे इस भाँति कहा।
तुम फूलो फलो यज्ञ से, यह इच्छित फलदायक तुम्हें रहा॥

(देवान्भावयतानेन……११)

इससे देवों का मान करो, दें देव तुम्हें सुख-भोग सदा।
यों भाव परस्पर किये परम कल्याण मिले नीरोग सदा॥

(इष्टान् भोगान् हि वो देवाः……१२)

यज्ञों से तृप्त हुए सुर देंगे इष्ट-भोग सब पार्थ ! सही।
जो उनके दिये दिये बिन उनको भोगे चोर यथार्थ वही॥

(यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो……१३)

शुभ यज्ञ-शेष खाकर बुधजन सब पापों से छुट जाते हैं।
वे पापी लोग पाप खाते जो अपने लिये पकाते हैं॥

(अन्नाद्भवन्ति भूतानि……१४)

सब जीव अन्न से ही होते, वह अन्न वृष्टि से होता जान।
हो वृष्टि यज्ञ के किये, यज्ञ भी जान कर्म से हुआ महान्॥

(कर्मब्रह्मोद्भवं विद्धि……१५)

वह कर्म वेद से हुआ वेद भी अविनाशी ईश्वर से मान।
यों सब में व्यापक ब्रह्म यज्ञ में नित्य समाया है भगवान्॥

(एवं प्रवर्तितं चक्रम्······१६)

यों चलते हुए चक्र के जो मानव अनुकूल नहीं चलता।
उस इन्द्रिय लम्पट पापी का नर-जन्म पाप में ही गलता॥

(यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्······१७)

पर जो कि—आत्मरत आत्मा ही में नित्य तृप्त है सभी कहीं।
संतुष्ट आप आत्मा ही में उसको कोई कर्त्तव्य नहीं॥

(नैव तस्य कृतेनार्थो······१८)

कुछ करने और न करने से इसका जग में कुछ स्वार्थ नहीं।
फिर किसी जीव से भी इसका रहता कुछ स्वार्थ यथार्थ नहीं॥

(तस्मादसक्तः सततम्······१९)

इससे तू अनासक्त होकर कर्त्तव्य कर्म कर नित्य सभी।
आसक्ति रहित कर कर्म परम पद पाता पुरुष महान् तभी॥

(कर्मणैव हि संसिद्धिम्······२०)

इस कर्म-योग से ही जनकादिक ने भी सिद्धि यहीं पाई।
यों देख लोक-संग्रह को भी तुम कर्म करो प्यारे भाई॥

(यद्यदाचरति श्रेष्ठः······२१)

जो कर्म श्रेष्ठ नर करता है सामान्य—पुरुष भी वैसा ही।
इसके दिखलाये पथ पर ही चलते हैं मानव सहसा ही॥

(न मे पार्थास्ति कर्तव्यम्······२२)

हे पार्थ ! सुनो, त्रैलोक्य बीच करना मुझ को न कहीं कुछ भी।
अप्राप्त सभी कुछ प्राप्त मुझे, फिर भी करता हूँ कर्म सभी॥

(यदि ह्यहं न वर्तेयम्······२३)

यदि पार्थ ! कदाचित् सावधान हो कर्म नहीं मैं करूँ कभी।
नर सब प्रकार बर्ताव करेंगे मेरे ही अनुसार सभी॥

(उत्सीदेयुरिमे लोकाः······२४)

सब लोक भ्रष्ट हो जायें यदि मैं कर्म यथोचित करूँ नहीं।
मैं कर्त्ता बनूँ वर्णसंकर का, जगद्-विनाशक बनूँ यहीं॥

(सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो······२५)

नित कर्मासक्त हुए जैसे नर मूढ़ कर्म करते सारे।
यों अनासक्त हो विज्ञ, लोक-संग्रह हित कर्म करें प्यारे॥

(न बुद्धिभेदं जनयेत्······२६)

बुध कर्मासक्त जड़ों की मति में भ्रम उत्पन्न करे न कभी।
निज करता हुआ युक्त कर्म फिर उन्हें करावे विज्ञ सभी॥

(प्रकृतेः क्रियमाणानि······२७)

सब प्रकृति गुणों के द्वारा होते कर्म नहीं पहिचान रहा।
अतिमूढ़ कुमति नर अहंकारवश मैं करता यह मान रहा॥

(तत्त्ववित्तु महाबाहो !······२८)

गुण एवं कर्म विभागों का, जो तत्त्व जान लेता मतिमान्।
गुणवर्तें सदा गुणों में बुध आसक्त नहीं होता यों जान॥

(प्रकृतेर्गुणसंमूढाः······२९)

नर प्रकृति गुणों से मोहित हो आसक्त रहें गुण कर्मों में।
उन जड़ मतिमूढ़ों को सर्वज्ञ न विचलित करे स्व-धर्मों में॥

(मयि सर्वाणि कर्माणि······३०)

नित कर्म मुझे ही अर्पण कर अध्यात्म चित्त से तू सारे।
फल-आश और ममता तजकर निर्द्वन्द युद्ध कर तू प्यारे॥

(ये मे मतमिदं नित्यम्······३१)

जो मानव श्रद्धावान् नित्य मेरे इस मत पर चलते हैं।
तज दोष-बुद्धि वे भी बन्धन-मय कर्म-जाल को दलते हैं॥

(ये त्वेतदभ्यसूयन्तो······३२)

जो दोष देखते अविवेकी नर, मेरे मत पर चलें नहीं।
उन सर्व-ज्ञान विमूढ़ों को पथ-भ्रष्ट जान लो सभी कहीं॥

(सदृशं चेष्टते स्वस्याः……३३)

नित ज्ञानी जन भी निज स्वभाव अनुसार वर्तता है दिन-रात।
जब प्रकृति अधीन सभी प्राणी फिर निग्रह क्या कर सकता तात॥

(इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे……३४)

प्रत्येक इन्द्रियों के विषयों में, राग-द्वेष हैं भरे पड़े।
इनके वश में नहिं आना, ये दो चोर लुटेरे शत्रु खड़े॥

(श्रेयान्स्वधर्मोविगुणः……३५)

सुखसाध्य भले परधर्मों से, निज-धर्म विगुण भी श्रेष्ठ कहा।
निज धर्म बीच मरना श्रेयस्कर, भयदायक परधर्म महा॥

अर्जुन बोले— (अथ केन प्रयुक्तोऽयम्……३६)

वार्ष्णेय ! प्रेरणा से किसकी, नर करता पाप महान् अहो।
निज इच्छा बिन भी बलात् खींचकर पाप कराता कौन कहो॥

श्रीभगवान् ने कहा—(काम एष क्रोध एषः……३७)

यह काम यही है क्रोध, हुआ उत्पन्न रजोगुण से बलवान्।
अति भक्षक महान् पापी है यह, जान इसे तू शत्रु समान॥

(धूमेनाव्रियते वह्निः……३८)

यह अग्नि धुँवे से, दर्पण मल से, गर्भ जेर से जैसे ही।
नित रहता ढका शुद्ध ज्ञान भी, काम शत्रु से वैसे ही॥

(आवृतं ज्ञानमेतेन……३९)

इस काम शत्रु की ज्वाला, तन में होती तृप्त न शान्त कभी।
कौन्तेय ! ज्ञानियों का भी इसने किया ज्ञान आक्रान्त सभी॥

(इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः……४०)

मन, बुद्धि इन्द्रियों में रहता, नित ज्ञान-रूप धन को हरता।
इनके द्वारा ही ज्ञान दबाकर, आत्मा को मोहित करता॥

(तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ······४१)

इससे भरतर्षभ ! प्रथम इन्द्रियाँ, दमन करो सविकार सभी।
फिर ज्ञान और विज्ञान विनाशक, इस पापी को मार अभी ॥

(इन्द्रियाणि पराण्याहुः······४२)

इस तन से परे जान इन्द्रियाँ, इन से श्रेष्ठ सूक्ष्म मन जान।
मन से परे बुद्धि है, "आत्मा" बुद्धि-तत्त्व से परे महान् ॥

(एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा······४३)

यों परे बुद्धि से आत्मा को तू समझ बुद्धिबल के अनुसार।
मन वश कर शीघ्र महाबाहो ! इस दुर्जय काम-शत्रु को मार ॥

॥ तीसरा अध्याय समाप्त हुआ ॥

चौथा अध्याय

श्रीभगवान् बोले—(इमं विवस्वते योगम्······१)

यह योग परम अविनाशी मैंने पूर्व सूर्य से कहा कभी।
रवि ने मनु से, मनु ने भी फिर इक्ष्वाकु-पुत्र से कहा सभी ॥

(एवं परम्पराप्राप्तम्······२)

राजर्षिवरों ने, यही योग, यों परम्परा से पाया है।
पर सु-चिरकाल ने आज परंतप ! इसका नाम मिटाया है ॥

(स एवायं मया तेऽद्य······३)

अब वही पुरातन योग पुनः परमोत्तम गुप्त रहस्य महान्।
इस हेतु तुम्हें मैं कहता हूँ, तुम भक्त सखा मम प्राण समान ॥

अर्जुन बोले— (अपरं भवतो जन्म······४)

श्रीसूर्य कभी पहिले जन्मे थे, जन्म आपका हुआ अभी।
यह कैसे जानूं प्रभो ! आप ने पहिले उनसे कहा कभी ॥

श्रीभगवान् बोले—(बहूनि मे व्यतीतानि……५)

सुन मेरे और तुम्हारे अर्जुन ! बीते जन्म अनेक कहीं ।
हैं सारे मुझको ज्ञात परंतप ! किन्तु तुम्हें वे याद नहीं ।।

(अजोऽपि सन्नव्ययात्मा……६)

मैं अव्यय और अजन्मा होकर सभी प्राणियों का स्वामी ।
कर प्रकृतिवश्य निज माया से, नित प्रकटूँ सर्वान्तिर्यामी ।।

(यदा यदा हि धर्मस्य……७)

प्रिय जब जब हानि धर्म की होती बढ़ता पाप अधर्म अपार ।
सुन तब तब भारत ! मैं भारत में सदैव लेता हूँ अवतार ।।

(परित्राणाय साधूनाम्……८)

प्रिय सत्पुरुषों की रक्षाहित, खल दुष्टों का करने संहार ।
संचार धर्म का करने को मैं युग युग प्रकटूँ बारम्बार ।।

(जन्म कर्म च मे दिव्यम्……९)

मम दिव्य जन्म कर्मों का जिसको तत्त्व-ज्ञान हो जाता है ।
तन त्याग मुझी में लय हो अर्जुन ! फिर वह जन्म न पाता है ।।

(वीतरागभयक्रोधाः……१०)

भय क्रोध राग तज मन्मय होकर मेरे आश्रित नित्य हुए ।
बहु पुरुष ज्ञान तप से पावन हो मम स्वरूप कृतकृत्य हुए ।।

(ये यथा मां प्रपद्यन्ते……११)

जो पुरुष मुझे जैसे भजते फल दूँ मैं उनको वैसा ही ।
यह देख पार्थ ! सर्वत्र पुरुष मम पथ पर चलते सहसा ही ।।

(कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम्……१२)

सब कर्म-फलों के इच्छुक मानव देवगणों को धाते हैं ।
निज कर्म फलों की सिद्धि यहाँ वे शीघ्रमेव पा जाते हैं ।।

(चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्······१३)

गुण कर्म भेद से मैंने चारों वर्ण रचे हे पार्थ ! महान् ।
इनके कर्ता अविनाशी को भी मुझे अकर्ता ही तू जान ।।

(न मां कर्माणि लिम्पन्ति······१४)

नहिं कर्म लिप्त होते मुझको फिर कर्म फलों की चाह नहीं ।
यों ठीक जानता जो कि मुझे वह कर्मों से बंधता न कहीं ।।

(एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म······१५)

यों जान पूर्वजों मुमुक्षुओं ने भी तो कर्म किये सारे ।
अतएव पूर्वजों कृत—पहिले से कर्म करो तुम भी प्यारे ।।

(किं कर्म किमकर्मेति······१६)

क्या कर्म तथैव अकर्म इसी भ्रम में मोहे विद्वद्वर भी ।
वह कर्म तुम्हें अब कहता हूँ, जो जान छुटें भव दुःख सभी ।।

(कर्मणोह्यपि बोद्धव्यम्······१७)

इन कर्म अकर्म विकर्मों का सु-रहस्य जानना योग्य सभी ।
है गहन कर्म-गति, ईशकृपा यदि हो कुछ इनका ज्ञान तभी ।।

(कर्मण्यकर्म यः पश्येत्······१८)

जो देखे कर्मों बीच अकर्म, अकर्म बीच जो कर्म सही ।
है ज्ञानी वही नरों में योगी, करता है सब कर्म वही ।।

(यस्य सर्वे समारम्भाः······१९)

जिसके सब काम कामना के संकल्प रहित ही रहते हैं ।
ज्ञानाग्नि दग्ध हों कर्म सभी, बुध उसको पंडित कहते हैं ।।

(त्यक्त्वा कर्मफलासंगम्······२०)

तज इच्छा कर्म-फलों की जो नित्तृप्त निराश्रय हुआ महान् ।
वह करता हुआ कर्म भी किन्तु—नहीं कुछ भी करता धीमान् ।।

(निराशीर्यतचित्तात्मा······२१)

आशा तज तन मन वश में कर, सब संग्रह त्याग किये रहता ।
केवल शारीरिक कर्म करे जो, उसको पाप नहीं दहता ।।

(यदृच्छा लाभ संतुष्टो······२२)

संतुष्ट उसी में जो कि—मिले फिर द्वंद्व व ईर्षा रहित कहीं ।
नित सिद्धि असिद्धि समान जिसे, वह कर्म किये भी बंधे नहीं ।।

(गतसंगस्य मुक्तस्य······२३)

जो संग रहित नर मुक्त, ज्ञान में है जिसका सुस्थिर चित भी ।
सब कर्म लीन होते उसके यज्ञार्थ करे जो कर्म सभी ।।

(ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः······२४)

मख में हवि अग्नि श्रुवादि व होता सब कुछ ब्रह्मरूप ही जान ।
यों ब्रह्म सु-कर्म समाधिस्थित, जो पाता वह भी ब्रह्म महान् ।।

(दैवमेवापरे यज्ञम्······२५)

कुछ योगी जन तो दैवोपासन-यज्ञ प्रेम से करते हैं ।
कुछ ब्रह्म अग्नि में विज्ञ यज्ञ से यज्ञ नेम से करते हैं ।।

(श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये······२६)

कुछ संयमरूप अग्नि में यति श्रोत्रादिक इन्द्रिय होम रहे ।
शब्दादि विषय इन्द्रिय पावक में कई जितेन्द्रिय होम रहे ।।

(सर्वाणीन्द्रियकर्माणि······२७)

कुछ युक्त, इन्द्रियों के प्राणों के जितने जो भी कर्म कहे ।
सद्ज्ञान प्रदीपित आत्म-सुसंयम योग-वह्नि में होम रहे ।।

(द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः······२८)

कुछ दानयज्ञ कुछ योगयज्ञ, तपयज्ञ कई यतिजन करते ।
स्वाध्याय-यज्ञ से ज्ञान-यज्ञ से, कुछ व्रतशील यती तरते ।।

(अपाने जुह्वति प्राणम्……२६)

सुन कुछ अपान में प्राण प्राण में होमें कुछ योगीन्द्र अपान।
कुछ प्राण अपान रोककर करते प्राणायाम लगाकर ध्यान॥

(अपरे नियताहारा:……३०)

आहार साधकर होम रहे कुछ प्राण वायु में प्राण सदा।
ये सभी यज्ञवित् यज्ञों से निष्पाप हुए ही जान सदा॥

(यज्ञशिष्टामृतभुजो……३१)

कर यज्ञ शेष जो अमृत खाँय, वे परब्रह्म में मिल जाते।
बिन यज्ञ गया जब यही लोक, परलोक सौख्य फिर क्या पाते॥

(एवं बहुविधा यज्ञा:……३२)

यों बहुविध यज्ञों का वेदों के मुख से ही विस्तार सभी।
सब तन मन इन्द्रिय-कर्मों से उत्पन्न जान हो पार तभी॥

(श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात्……३३)

इस द्रव्य यज्ञ से सदा परंतप! ज्ञान यज्ञ है परम प्रधान।
सब कर्म ज्ञान में समाप्त होते पार्थ! ज्ञान यों श्रेष्ठ महान्॥

(तद्विद्धि प्रणिपातेन……३४)

कर सेवा विनय प्रणाम नित्य ही, प्रश्न करोगे जब जाकर।
उपदेश करेंगे ज्ञानी जन, तब तुम्हें ज्ञान का समझाकर॥

(यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम्……३५)

प्रिय जिसे जानकर फिर तुम ऐसे मोहित कभी नहीं होगे।
जिससे सब जीवमात्र आपे में और मुझी में देखोगे॥

(अपि चेदसि पापेभ्य:……३६)

यदि तुम महान् पापी भी हो सम्पूर्ण पापियों से बढ़कर।
सब पाप-समुद्र पार होगे इस ज्ञान-नाव पर ही चढ़कर॥

(यथैधांसि समिद्धोऽग्निः······३७)

जैसे कि प्रचण्ड अग्नि अर्जुन ! ईंधन को भस्म किया करता।
वैसे ही ज्ञान अग्नि भी सब कर्मों की भस्म क्रिया करता॥

(न हि ज्ञानेन सदृशम्······३८)

इस जग में ज्ञान सदृश पावन, कुछ साधन और नहीं ऐसा।
योगी वह स्वयं हृदय में पाता ज्ञान समय पर ही वैसा॥

(श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्······३९)

अतिश्रद्धावान् जितेन्द्रिय तत्पर—पुरुष ज्ञान-धन पाता है।
फिर पाकर ज्ञान शीघ्र ही उत्तम शांति स्वयं पा जाता है॥

(अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च······४०)

नर ज्ञान व श्रद्धावर्जित, संशयवान् नष्ट हो जाता है।
वह भ्रष्ट हुआ दोनों लोकों से, सुखी नहीं हो पाता है॥

(योगसंन्यस्तकर्माणम्······४१)

तज कर्म समत्व योग से संशय ज्ञान-योग से नष्ट किये।
उस आत्मवान् को कर्म धनंजय ! नहीं बाँधते इसीलिये॥

(तस्मादज्ञानसंभूतम्······४२)

अज्ञान जनित संशय मन का, शित ज्ञान-कृपाण हृदय धरके।
छेदन कर उठो जुटो रण में भारत ! योगस्थित हो करके॥

॥ चौथा अध्याय समाप्त हुआ॥

पाँचवाँ अध्याय

अर्जुन बोला— (संन्यासं कर्मणां कृष्ण !······१)

प्रभु कभी कहो संन्यास श्रेष्ठ है, फिर कहते हो योग सही।
हरि ! इन दोनों में एक सुनिश्चित श्रेय मुझे जो कहो वही ॥

श्रीभगवान् ने कहा—(संन्यासः कर्मयोगश्च······२)

संन्यास तथा शुभ कर्मयोग, दोनों ही दें कल्याण महा।
पर पार्थ ! कर्म संन्यासयोग से कर्मयोग ही श्रेष्ठ कहा ॥

(ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी······३)

नर वही नित्य संन्यासी है, जो इच्छा-द्वेष विमुक्त सदा।
बिन द्वंद्व महाबाहो ! सुख से होता वह बंधन मुक्त सदा ॥

(सांख्ययोगौ पृथग्बालाः······४)

सुन 'सांख्य' 'योग' को अज्ञ पुरुष ही भिन्न बताते विज्ञ नहीं।
नर दोनों ही का फल पाता, यदि सधा एक भी ठीक कहीं ॥

(यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम्······५)

जो पद मिलता है सांख्य-योग से, कर्म-योग से भी सोई।
बुध सांख्य व कर्म-योग दोनों ही एक देखता है कोई ॥

(संन्यासस्तु महाबाहो !······६)

बिन कर्मयोग संन्यास महाबाहो ! मानव दुख से पाता।
अतिशीघ्र कर्मयोगी मुनिवर उस परम्ब्रह्म में मिल जाता ॥

(योगयुक्तो विशुद्धात्मा······७)

नर योगयुक्त अति-शुद्धचित्त निज आत्म इन्द्रियाँ वश्य किये।
निर्लिप्त कर्म करके भी वह सर्वात्मरूप है इसीलिये ॥

(नैव किंचित्करीमीति……८)

तत्त्वज्ञ युक्त नर यों मानें मैं करता कुछ भी नहीं कभी।
सुनता खाता छूता जाता नित सूँघ देखता हुआ सभी॥

(प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्……९)

सोते व साँस लेते तजते लेते व बोलते हुए तथा।
विषयों में इन्द्रिय गण वर्तें दृग् मीच खोलते हुए तथा॥

(ब्रह्मण्याधाय कर्माणि……१०)

जो ब्रह्म समर्पण करके करता कर्म संग तजकर ऐसे।
उसको यों पाप नहीं लगता सुन कमल पत्र पर जल जैसे॥

(कायेन मनसा बुद्ध्या……११)

निज तन मन और बुद्धि से केवल इन्द्रिय गण से भी सारे॥
योगी तज संग कर्म करते निज आत्म-शुद्धि हित ही प्यारे॥

(युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा……१२)

हो युक्त कर्म-फल इच्छा तजकर पूर्ण शांति नित पाता है।
फल इच्छासक्त अयुक्त पुरुष दृढ बंधन में बंध जाता है॥

(सर्वकर्माणि मनसा……१३)

मन से तजकर सब कर्म संयमी सुख में मगन रहे दिन रात।
कुछ करता नहीं कराता भी, नवद्वार पुरी में बसता तात॥

(न कर्तृत्वं न कर्माणि……१४)

कर्तापन कर्म व कर्मफलों का प्रभु संयोग नहीं रचता।
केवल स्वभाव ही नर का जग में सब कुछ सभी कहीं रचता॥

(नादत्ते कस्यचित्पापम्……१५)

भगवान् किसी का पाप तथैव पुण्य भी लेता नहीं कभी।
सब ज्ञान ढका माया ने, इससे जीव मोह में पड़े सभी॥

(ज्ञानेन तु तदज्ञानम्······१६)

निज आत्म ज्ञान ने नष्ट किया जिनका हृद्गत अज्ञान सभी।
उस परम तत्त्व को करे प्रकाशित सूर्य सदृश वह ज्ञान तभी॥

(तद्बुद्धयस्तदात्मानः······१७)

मन बुद्धि उसी में लगा जो कि तन्निष्ठ व तत्पर हो जाते।
वे ज्ञान अग्नि से पाप भस्म कर फिर से जन्म नहीं पाते॥

(विद्याविनयसंपन्ने······१८)

विद्या व विनययुत विप्र गऊ हाथी कुत्ता भंगी निर्मान।
समदृष्टि सभी में ज्ञानी समदर्शी पुरुषों की एक समान॥

(इहैव तैर्जितः सर्गो······१९)

जग यहीं उन्होंने जीत लिया, मन साम्य भाव में जिनके तात।
निर्दोष ब्रह्म सम हैं, इससे वे ब्रह्म बीच रहते दिन रात॥

(न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य······२०)

प्रिय वस्तु मिले पर मुदित न अप्रिय पाकर जो नहिं घबराता।
स्थिर-बद्धि मोह तज वही ब्रह्मविद् विज्ञ ब्रह्म में रम जाता।

(बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा······२१)

जो बाह्य विषय आसक्त नहीं पर आत्मानन्द जिसे भाता।
मन ब्रह्म योग में रमा वही परमोत्तम अक्षय सुख पाता॥

(ये हि संस्पर्शजा भोगाः······२२)

कौन्तेय ! इन्द्रियों के संयोगज भोग समझ दुख मूल सभी।
हैं आदि अन्त वाले इनमें बुध रमते नहीं भूल कर भी॥

(शक्नोतीहैव यः सोढ़ुम्······२३)

जो काम क्रोध का वेग धीर नर, मरने तक ही सह जाता।
है योगी सब में सुखी वही, जग में सर्वोत्तम यश पाता॥

(योऽन्तःसुखोऽन्तराराम:……२४)

जो अन्तःसुख आराम जिसे, फिर जिसको अन्तर्ज्ञान महान् ।
वह ब्रह्म-रूप हो पाता योगी, ब्रह्म-रूप निर्वाण महान् ॥

(लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणम्……२५)

ऋषि द्वंद्व-रहित जो आत्म संयमी क्षीणपाप मतिमान् महा ।
सब जीवमात्र के हित-रत, पाते वही ब्रह्म निर्वाण महा ॥

(कामक्रोधवियुक्तानाम्……२६)

यति काम क्रोध से मुक्त चित्त जिनका है संयम पूर्ण महा ।
सुन उन ज्ञानी पुरुषों को चारों ओर ब्रह्म-निर्वाण कहा ॥

(स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्……२७)

तज दूर बाह्य विषयों को, अपनी भृकुटि बीच में दृष्टि धरे ।
प्रिय पुनः नासिका अंतर गोचर प्राण अपान समान करे ॥

(यतेन्द्रियमनोबुद्धिः……२८)

मन बुद्धि इन्द्रियाँ वश्य किये, मुनि मोक्षपरायण युक्त सदा ।
भय इच्छा क्रोध विमुक्त हुआ, जो पुरुष वही है मुक्त सदा ॥

(भोक्तारं यज्ञतपसाम्……२९)

सब यज्ञ-तपों का भोक्ता ईश्वर सब लोकों का परम प्रधान ।
यों मुझे जानकर सब लोकों का सुहृद् शान्ति पाता विद्वान् ॥

॥ पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

छठा अध्याय

श्रीभगवान् बोले— (अनाश्रितः कर्मफलम्……१)

तज आश कर्म-फल की स्व-कर्म करता जो करने योग्य सभी।
संन्यासी वही कर्मयोगी न कि—अक्रिय और निराग्नि कभी॥

(यं संन्यासमिति प्राहुः……२)

कहते जिसको संन्यास उसी को जान पांडुसुत ! योग सभी।
संन्यास किये बिन संकल्पों के हो सकता योगी न कभी॥

(आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्……३)

सुन योग साधना इच्छुक मुनि का श्रेष्ठ कर्म ही हेतु कहा।
जब योगारूढ़ वही हो तव कारण संकल्प अभाव रहा॥

(यदा हि नेन्द्रियार्थेषु……४)

जब विषयों में आसक्त नहीं फिर कर्मासक्त न हो पाता।
संकल्प सभी दे त्याग, तभी नर योगारूढ़ कहा जाता॥

(उद्धरेदात्मनात्मानम्……५)

उद्धार करे आत्मा से अपना पतन आप नहिं करे सुजान।
निज मित्र स्वयं ही आत्मा अपना स्वयं आप ही शत्रु महान्॥

(बन्धुरात्मात्मनस्तस्य……६)

जिसने आपे को जीत लिया, वह अपना बन्धु स्वयं है तात !
अजितात्मा नर का आपा ही, रिपु सम रिपुता बरते दिन रात॥

(जितात्मनः प्रशान्तस्य……७)

नर शान्त जितात्मा का आत्मा, एकाग्र शान्त सुस्थिर रहता।
नित शीत उष्ण सुख दुख अपमान व मान समान समझ सहता॥

(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा······८)

इन्द्रिय-विजयी कूटस्थ ज्ञान-विज्ञानपूर्ण जो विज्ञ सही।
सम धूल हेम पाषाण जिसे, योगी कहलाता युक्त वही॥

(सुहृन्मित्रार्युदासीन······९)

प्रिय मित्र शत्रु या बन्धु उदासी द्वेषी हो या सुहृद् महा।
मध्यस्थ साधु पापी में भी, समबुद्धि पुरुष अतिश्रेष्ठ कहा॥

(योगी युञ्जीत सततम्······१०)

मन आत्म-सुसंयम कर योगी, आशा संग्रह को त्याग परे।
एकान्त अकेला बैठ निरन्तर योग-साधना नित्य करे॥

(शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य······११)

फिर बिछा कुशासन पर मृगछाला, शुद्ध वस्त्र कुछ ऊपर हो।
अति ऊँचा नीचा हो न कहीं, आसन थिर पावन भू पर हो॥

(तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा······१२)

फिर मन एकाग्र किये संयम कर चित्त इन्द्रियों के सब काम।
थिर आसन बैठ आत्म-शुद्धि हित योगाभ्यास करे अविराम॥

(समं कायशिरोग्रीवम्······१३)

सीधे कर काया, शिर, ग्रीवा, दृढ़, निश्चल होकर बैठ कहीं।
निज नाक-कोर पर दृष्टि जमावे, दिश देखे फिर और नहीं॥

(प्रशान्तात्मा विगतभीः······१४)

अति शान्तचित्त मन संयम कर, नित युक्त हुआ भयहीन सदा।
धर ब्रह्मचर्य-व्रत मत्पर हो कर चित्त मुझी में लीन सदा॥

(युञ्जन्नेवं सदात्मानम्······१५)

यों नित्य नियत मन योगी, योगाभ्यास करे सविधान सदा।
वह मुझ में स्थित निर्वाण सुख-प्रद पाता शान्ति महान् सदा॥

(नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति······१६)

अति खाकर या अति भूखों मरकर योग नहीं सधता यह तात।
फिर सिद्ध नहीं होता अर्जुन ! नित सोते या जगते दिन-रात॥

(युक्ताहारविहारस्य······१७)

आहार विहार सदा जिसके हों ठीक कर्म-व्यवहार सभी।
हो युक्त जागना, सोना, करता योग दुःख से पार तभी॥

(यदा विनियतं चित्तम्······१८)

जब वशी किया दृढ़ चित्त आत्म ही में रम जाता पूर्ण सही।
फिर सभी कामना तजता, तब मानव कहलाता युक्त वही॥

(यदा दीपो निवातस्थो······१९)

ज्यों वायु-रहित घर में दीपक, निश्चल रहता निर्वात वही।
है योग-निरत योगी के संयतचित की उपमा तात ! कही॥

(यत्रोपरमते चित्तम्······२०)

नित योगाभ्यास निरुद्ध-चित्त उपराम जहाँ पर पाता है।
लखि स्वयं आपको आत्मा में संतुष्ट जहाँ हो जाता है॥

(सुखमात्यन्तिकं यत्तद्······२१)

जो बुद्धि-गम्य इन्द्रिय अतीत सुख नित्य अनन्त कहा जाता।
जिसमें सुस्थित मुनिवर्य तत्त्व से कभी न विचलित हो पाता॥

(यं लब्ध्वा चापरं लाभम्······२२)

पाकर जिसको फिर उससे अच्छा लाभ नहीं कोई भाता।
जिसमें स्थित नर को महादुःख भी कभी न विचलित कर पाता॥

(तं विद्याद्दुःखसंयोग······२३)

जिसमें भव-दुःख वियोग सदा वह योग जानना श्रेष्ठ महान्।
वह योग साधने योग्य चित्त निश्चय निश्चल करके बलवान्॥

(संकल्पप्रभवान्कामान्······२४)

तजकर सम्पूर्ण कामनाएँ संकल्प-जनित मन में धारी।
फिर मन से सभी ओर से वशकर इन्द्रिय-संघ अहितकारी ॥

(शनैः शनैरुपरमेत्······२५)

यों धीर बुद्धि से पाता योगी शनैः शनैः उपराम यहीं।
मन आतमा में स्थिर करे और कुछ चिन्तन का फिर काम नहीं ॥

(यतो यतो निश्चरति······२६)

यह चंचल अस्थिर चित्त जहाँ भी जाये कहीं विषय भोगी।
फिर वहीं वहीं से रोक इसे निज आत्म-वश्य कर ले योगी ॥

(प्रशान्तमनसं ह्येनम्······२७)

अति शान्तचित्त जो ब्रह्म-भूत निष्पाप रजोगुण रहित महान्।
उस शुद्ध आत्मयोगी को मिलता सर्वोत्तम सुख परम प्रधान ॥

(युञ्जन्नेवं सदात्मानम्······२८)

जो मुक्त-पाप योगी ऐसे ही योग साधता नित्य सही।
वह ब्रह्म-प्राप्तिमय-अनन्त-सुख सानन्द भोगता सदैव ही ॥

(सर्वभूतस्थमात्मानम्······२९)

योगी युक्तात्मा समदर्शी सर्वत्र देखता है प्यारे।
सब जीवमात्र में आत्मा, आत्मा बीच जीव जग के सारे ॥

(यो मां पश्यति सर्वत्र······३०)

सर्वत्र मुझे ही जो देखे सब विश्व मुझी में जो धीमान्।
उससे मैं छिपा नहीं रहता, उसको भी मुझसे दूर न जान ॥

(सर्वभूतस्थितं यो माम्······३१)

घट घट में व्याप्त मुझे ही जो एकत्व-भाव से भजे सही।
वह सब प्रकार भी वर्ते योगी किन्तु मुझी में बसे वही ॥

(आत्मौपम्येन सर्वत्र······३२)

जो अपने सदृश देखता है सुख दुःख सभी के सभी कहीं।
मैं उसे मानता हूँ अर्जुन ! सर्वोत्तम योगी तभी कहीं॥

अर्जुन बोले— (योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः······३३)

यह साम्य बुद्धि से गम्य योग, जो तुमने मुझसे अभी कहा।
मधुसूदन ! चित्त महा चंचल, थिति रहित मुझे यों दीख रहा॥

(चंचलं हि मनः कृष्ण !······३४)

अति चंचल परम प्रमाथी दृढ़ मन कृष्ण ! हठी बलवान् महा।
प्रभु ! इसे रोकना वायु-वेगसम, अति दुर्घट मैं जान रहा॥

श्रीभगवान् ने कहा—(असंशयं महाबाहो !······३५)

इसमें संशय न महाबाहो ! मन चंचल कभी नहीं बँधता।
अभ्यास किये वैराग्य धरे कौन्तेय ! किन्तु यह भी सधता॥

(असंयतात्मना योगो······३६)

मेरा मत है मन वश्य किये बिन, योग साधना कठिन महान्।
मन वश्य किये पर यत्नशील को योग प्राप्त हो सुलभ समान॥

अर्जुन बोले— (अयतिः श्रद्धयोपेतो······३७)

जो योग-मार्ग में विचलित मन हो, शिथिल यत्न पर श्रद्धावान्।
हे कृष्ण! कौन गति पाता वह यदि योग-सिद्धि नहिं मिले महान्॥

(कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः······३८)

स्थितिहीन ब्रह्म-पथ में भूला जो हरका घरका रहे नहीं।
क्या उभय मार्ग से भ्रष्ट छिन्न बादल-सा होता नष्ट कहीं॥

(एतन्मे संशयं कृष्ण !······३९)

हे कृष्ण ! यही संशय मेरा अति शीघ्र दूर करिये सारा।
अतिरिक्त आपके और नहीं सन्देह दूर करने हारा॥

श्रीभगवान् ने कहा—(पार्थ नैवेह नामुत्र······४०)

इस नर का दोनों लोकों में हे पार्थ ! विनाश नहीं होता।
कल्याण कर्म करने वाले को दुर्गति त्रास नहीं होता॥

(प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्······४१)

नर योग-भ्रष्ट अति दिव्य पुण्यवानों के पाकर लोक कहीं।
बहु वर्षों बस शुचि श्रीमानों के घर जन्में फिर आन यहीं॥

(अथवा योगिनामेव······४२)

अथवा योगीश ज्ञानियों के सत्कुल में लेता जन्म कहीं।
ऐसा भी दुर्लभ जन्म जगत् में पुरुषमात्र को सुलभ नहीं॥

(तत्र तं बुद्धिसंयोगम्······४३)

संयोग यहाँ भी पूर्व-देह-गत उसी बुद्धि का पाता है।
कुरुनन्दन ! वह नर सिद्धि-हेत फिर यत्न अनेक बनाता है॥

(पूर्वाभ्यासेन तेनैव······४४)

उस पूर्वजन्म-अभ्यास-योग से, खिंचकर विवश यहीं आता।
जिज्ञासु योग का वेदविहित सब कर्मफलों को लँघ जाता॥

(प्रयत्नाद्यतमानस्तु······४५)

बहु यत्न किये पर वह योगी फिर सब पापों से छुट जाता।
पा सिद्धि अनेकों जन्मों में फिर पूर्ण परम गति को पाता॥

(तपस्विभ्योऽधिको योगी······४६)

सब तपस्वियों से और ज्ञानियों से योगी उत्तम माना।
है श्रेष्ठ कर्मनिष्ठों से भी, अत अर्जुन ! योगी हो जाना॥

(योगिनामपि सर्वेषाम्······४७)

सम्पूर्ण योगियों में योगी अति श्रेष्ठ मुझे वह भाता है।
भजता जो श्रद्धावान् मुझे ही निसदिन मन में ध्याता है॥

॥ छठा अध्याय समाप्त हुआ॥

सातवाँ अध्याय

श्रीभगवान् ने कहा—(मय्यासक्तमनाः पार्थ !……१)

आसक्त किये मन मुझमें ही आश्रय मेरे कर योग सही।
जैसे सम्पूर्ण मुझे तू निश्चय जानेगा सुन पार्थ ! वही॥

(ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम्……२)

मैं ज्ञान-पूर्ण विज्ञान सहित तुम से सम्पूर्ण अभी कहता।
सुन जिसे जानकर और ज्ञेय जग में कुछ शेष नहीं रहता॥

(मनुष्याणां सहस्रेषु……३)

नर सिद्धि-हेत कोई करता है यत्न सहस्रों में धीमान्।
उन में भी मुझे तत्त्व से कोई यत्नशील जाने विद्वान्॥

(भूमिरापोऽनलो वायुः……४)

जल, भूमि, अग्नि, आकाश, वायु, मन, बुद्धि व अहंकार भारी।
इन आठ विभागों में ही मेरी प्रकृति विभक्त हुई सारी॥

(अपरेयमितस्त्वन्यां……५)

यह "अपरा" प्रकृति महाबाहो ! जिससे कि जगत् विस्तार महा।
फिर जान जीव को "परा" प्रकृति जो सकल विश्व-आधार कहा॥

(एतद्योनीनि भूतानि……६)

हे पार्थ ! इन्हीं दोनों ही से उत्पन्न समझ प्राणी सारे।
उत्पत्ति और संहार मुझे ही मूल जान सबका प्यारे॥

(मत्तः परतरं नान्यत्……७)

फिर मुझसे परे धनंजय ! कुछ भी नहीं और मुझसे न्यारा।
मणि-माल सूत्र में जैसे यों ही विश्व गुथा मुझमें सारा॥

(रसोऽहमप्सु कौन्तेय······८)

जल में रस हूँ, मैं चन्द्र-सूर्य में प्रभा, गगन में शब्द महा।
चहुँ वेदों में ओंकार, नरों में मृत-जीवन—पुरुषार्थ कहा॥

(पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च······९)

पृथिवी में पावन गन्ध, अग्नि में तेज, पार्थ! अति उत्कट हूँ।
मैं जीवन हूँ सब जीवों में, तप तपस्वियों में दुर्घट हूँ॥

(बीजं मां सर्वभूतानाम्······१०)

हे पार्थ! सनातन बीज सभी जीवों का, नित्य मुझे ही जान।
मैं बुद्धि, बुद्धिमानों की हूँ, तेजस्विजनों का तेज महान्॥

(बलं बलवतां चाहम्······११)

नित काम-विवर्जित राग-रहित, बल हूँ मैं ही बलवानों का।
मैं ही भरतर्षभ! काम परम धर्मानुकूल मतिमानों का॥

(ये चैव सात्त्विका भावाः······१२)

मुझसे ही उपजे सात्त्विक, राजस, तामस भाव महान् सभी।
मैं इनमें कभी नहीं रहता, मुझमें ये रहते जान सभी॥

(त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः······१३)

सुन इन्हीं त्रिगुण भावों से व्याप्त विमोहित है यह जगत् सभी।
पर त्रिगुण पार मुझ अविनाशी को नहीं जानता जगत कभी॥

(दैवी ह्येषा गुणमयी······१४)

ये त्रिगुणमयी माया मेरी अति दुस्तर दिव्य अपार कही।
मेरी ही शरण पड़ेंगे जो, वे ही नर होंगे पार सही॥

(न मां दुष्कृतिनो मूढाः······१५)

दुष्कर्मी, मूढ़, अधम नर मुझको भजते नहीं अभक्त कभी।
माया ने हरा ज्ञान, इससे वे असुर-भाव में रक्त सभी॥

(चतुर्विधा भजन्ते माम्······१६)

ये चार भाँति के सुकृति पुरुष, अर्जुन ! मुझको भजते नित ही।
आरत, जिज्ञासु व अर्थार्थी, ज्ञानी तो नित्य यथोचित ही॥

(तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः······१७)

नित युक्त अनन्यासक्त भक्त, यों ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ कहा।
मैं ज्ञानी को अतिशय प्रिय हूँ, प्रिय भक्त मुझे वह श्रेष्ठ महा॥

(उदाराः सर्व एवैते······१८)

सब उत्तम किन्तु मानता मैं, ज्ञानी मम आत्म-रूप है तात !
वह भक्त मुझी सर्वोत्तम गति में, युक्तचित्त रमता दिन रात॥

(बहूनां जन्मनामन्ते······१९)

ज्ञानी जन अनेक जन्मों में, सब "वासुदेवमय" जान सही।
हो प्राप्त मुझे नित भजे महात्मा जन अति दुर्लभ जान वही॥

(कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः······२०)

निज स्वभाव से प्रेरे जड़मति, अन्य देवगण धाते हैं।
वे विविध कामनावश अज्ञानी, नियम अनेक बनाते हैं॥

(यो यो यां यां तनुं भक्तः······२१)

जो जो नर जिस जिस देवमूर्त्ति को, पूजे श्रद्धा सहित कहीं।
मैं उसी भक्त की उसी देव में श्रद्धा निश्चल करूँ वहीं॥

(स तया श्रद्धया युक्तः······२२)

वह पुरुष उसी श्रद्धा से भजता, उसी देव को ईश्वर मान।
मेरे ही रचे हुए फल पाता, किन्तु तुच्छ उनको तू जान॥

(अन्तवत्तु फलं तेषाम्······२३)

पर पार्थ ! अन्तवत् फल पाते हैं, अल्प-बुद्धि वे नर सारे।
नित देवभक्त देवों को पाते, मेरे भक्त मुझे प्यारे॥

(अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्······२४)

अव्यक्त मुझे नित व्यक्त हुआ ही, मान रहे मतिमन्द महा।
मम अव्यय भाव नहीं जाने, जो परमोत्तम आनन्द कहा।।

(नाहं प्रकाशः सर्वस्य······२५)

मैं अपनी छिपा योगमाया से, दीख नहीं सकता सबको।
नर मूढ़ नहीं जानें मुझ अव्यय नित्य अजन्मा माधव को।।

(वेदाहं समतीतानि······२६)

जो हुए, हो रहे या होंगे, है सब जीवों का ज्ञान मुझे।
पर जान न पाता कोई भी नर, संसारी मतिमान् मझे।।

(इच्छाद्वेषसमुत्थेन······२७)

हे भारत ! इच्छा, द्वेष जनित, जो द्वन्द्व मोह जग में छाया।
सब जीव परंतप ! मोहे इसने, रची मोह-रूपी माया।।

(येषां त्वन्तगतं पापम्······२८)

पर जिन पुण्यात्मा पुरुषों के, जब पाप नष्ट हों तात ! सभी।
वे द्वंद्व मोह से मुक्त मुझे, भजते दृढ़ निश्चयवान् तभी।।

(जरामरणमोक्षाय······२९)

जो जरा मरण से छुटने का, नर करते यत्न ममाश्रित हो।
सम्पूर्ण ब्रह्म, अध्यात्म तत्त्व, सब कर्म जानते वही अहो।।

(साधिभूताधिदैवं माम्······३०)

अधिभूत सहित, अधिदैव-युवत, अधि-यज्ञ मुझे जो जानेंगे।
नित युक्त-चित्त नर, मरण समय भी, वही मुझे पहिचानेंगे।।

।। सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।

आठवाँ अध्याय

अर्जुन ने पूछा— (किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम्······१)

वह ब्रह्म कौन ? अध्यात्म कौन ? फिर कर्म किसे कहते स्वामी ?
अधिभूत कहो, पुरुषोत्तम ! फिर अधिदैव कहो अन्तर्यामी ?

(अधियज्ञः कथं कोऽत्र······२)

अधियज्ञ कौन है ? कैसे है ? मधुसूदन कहो मनुज-तन में ?
फिर मरण समय कैसे पहिचानें, तुम्हें जितेन्द्रिय जन मन में ?

श्रीभगवान् बोले—(अक्षरं ब्रह्म परमम्······३)

अक्षर अविनाशी 'परम ब्रह्म' है, जीवात्मा 'अध्यात्म' कहा।
भूतों में भाव-समुत्पादक, जो त्याग वही है 'कर्म' महा ॥

(अधिभूतं क्षरो भावः······४)

'अधिभूत' विनश्वर भाव कहा, 'अधिदैव' सुचेतन पुरुष महा।
'अधियज्ञ' स्वयं मैं विष्णु-रूप, सबके घट घट में व्याप रहा ॥

(अन्तकाले च मामेव······५)

करता हुआ स्मरण मेरा ही, अन्त समय तन तज जाता।
इसमें सन्देह नहीं वह नर, मेरे ही स्वरूप को पाता ॥

(यं यं वाऽपि स्मरन्भावम्······६)

नर जो जो भाव अन्त सुमरन करते करते मर जाता है।
कौन्तेय ! रमा नर जिसमें नित ही, उसी भाव को पाता है ॥

(तस्मात्सर्वेषु कालेषु······७)

अतएव मुझे ही याद करो तुम नित्य युद्ध भी करो यहीं।
मन बुद्धि मुझी में लगा, मिलोगे मुझमें ही संदेह नहीं ॥

(अभ्यासयोगयुक्तेन……८)

अभ्यास-योग-युत अनन्य-चित से, चिन्तन करता हुआ सुजान ।
परमोत्तम दिव्य पुरुष को पाता, पार्थ ! सु-योगी पुरुष महान् ॥

(कविं पुराणमनुशासितारम्……९)

सर्वज्ञ, अनादि, नियन्ता, सर्वाधार, अचिन्त्य जगद्भर्त्ता ।
आदित्यवर्ण, तम-पार, सूक्ष्मतम का जो नर चिन्तन करता ॥

(प्रयाणकाले मनसाऽचलेन……१०)

मुनि मरण समय मन अचल किये धर भृकुटि बीच थिर प्राण सही ।
दृढ़ भक्ति योग-बल से पाता उस दिव्य पुरुष को युक्त वही ॥

(यदक्षरं वेदविदो वदन्ति……११)

वेदज्ञ कहें 'अक्षर' जिसमें यति विगत-राग रमते दिन रात ।
धरते जिसके हित 'ब्रह्मचर्य' संक्षिप्त कहूँ वह पद हे तात !

(सर्वद्वाराणि संयम्य……१२)

सब इन्द्रिय-द्वार रोक योगी, मन को स्व-हृदय में थिर करके ।
नित योग धारणा करे प्राण अपने मस्तक में थिर धरके ॥

(ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म……१३)

जो ॐ एकाक्षर जपते जपते, मम चिन्तन करता जाता ।
मुनि देह त्याग कर शीघ्र वही योगी परमोत्तम गति पाता ॥

(अनन्यचेताः सततं यो……१४)

जो नित्य अनन्यासक्त-चित्त से, मुझे स्मरण करता दिन रात ।
उस नित्य युक्त योगी को मैं हे पार्थ ! सुलभ मिलता हूँ तात !

(मामुपेत्य पुनर्जन्म……१५)

पा परम सिद्धि जो श्रेष्ठ महात्मा पुरुष मुझे ही पा जाते ।
पाकर मुझको फिर दुःखालय क्षणभंगुर जन्म नहीं पाते ॥

(आब्रह्मभुवनाल्लोकाः······१६)

अर्जुन ! जन ब्रह्मलोक तक भी, जाकर फिर लौट यहीं आते।
कौन्तेय ! किन्तु मुझको पाकर नर फिर से जन्म नहीं पाते ॥

(सहस्रयुगपर्यन्तम्······१७)

यों ब्रह्मा के दिन रात सहस्रों युग लम्बे जो नर जानें।
दिन-रात-रूप विकराल काल की चाल वही नर पहिचानें ॥

(अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः······१८)

दिन होते ही अव्यक्त रूप से व्यक्ति प्रघट होते सारे।
हो रात उसी अव्यक्त बीच, फिर लय होकर सोते सारे ॥

(भूतग्रामः स एवायम्······१९)

यह प्रकृति वश्य हो भूत-संघ, बहु बार जन्मता मरता है।
हे पार्थ ! रात में लय होता, दिन उगे जन्म फिर धरता है ॥

(परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो······२०)

सुन इससे परे और भी फिर 'अव्यक्त' सनातन तत्त्व महान्।
सब जीव नष्ट होने पर भी, वह नष्ट नहीं होता भगवान् ॥

(अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः······२१)

अव्यक्त व अक्षर जो कि कहा गति वही जान परमोत्तम है।
जिसको पाकर फिर नहिं लौटें मम धाम वही सर्वोत्तम है ॥

(पुरुषः स परः पार्थ······२२)

जिसमें बसते सब जीव तथा जिससे यह जग परिपूर्ण सभी।
वह परम पुरुष हो प्राप्त तभी, यदि हो दृढ़ भक्ति अनन्य कभी ॥

(यत्र काले त्वनावृत्तिम्······२३)

जिसमें मर योगी नहिं लौटें या लौट पुनः आ जाते हैं।
वह दोनों काल सुनो भरतर्षभ ! हम तुमको बतलाते हैं ॥

(अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः······२४)

शुचि, अग्नि, ज्योति, दिन शुक्लपक्ष छैमास उत्तरायण आता ।
तन त्याग ब्रह्मवित् जो जाता, मुनि वही ब्रह्म-पद को पाता ॥

(धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः······२५)

सुन धूम, निशा, फिर कृष्णपक्ष, छैमास दक्षिणायन रहता ।
तब मरकर योगी चन्द्रलोक बस, लौट पुन भव दुख सहता ॥

(शुक्ल कृष्णे गती ह्येते······२६)

ये शुक्ला, कृष्णा दो गति अर्जुन ! नित्य यही जग की मानी ।
पहली से मोक्ष, दूसरी से फिर लौट यहीं आता ज्ञानी ॥

(नैते सृती पार्थ जानन्······२७)

ये दोनों मार्ग जानकर योगी मोह-चक्र में नहिं आता ।
इससे हे अर्जुन ! सभी काल तू योगयुक्त हो सुन भ्राता ॥

(वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव······२८)

जो कुछ कहा पुण्यफल, जग में वेदयज्ञ तप दोनों में ।
सब लाँघ आदि पद पाता योगी, इसे जानकर ज्ञानों में ॥

॥ आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

नवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले— (इदं तु ते गुह्यतमम्······१)

बिन दोषदृष्टि तू गुणग्राही यों सुन कहता हूँ तुझे अभी ।
अतिगुप्त ज्ञान विज्ञान सहित जो जान छुटें भव-दुःख सभी ॥

(राजविद्या राजगुह्यम्······२)

यह ज्ञान 'राजविद्या' अति पावन परम गुप्त कहलाता है ।
सुख साध्य व अव्यय धर्मयुक्त प्रत्यक्ष फलों का दाता है ॥

(अश्रद्दधानाः पुरुषाः······३)

इस धर्म विषै जो पुरुष परंतप ! श्रद्धा कभी नहीं करते ।
वे मुझे न पाकर लौट मृत्यु-पथ—जग में घिसट घिसट मरते ।।

(मया ततमिदं सर्वम्······४)

सुन मुझ अव्यक्त-रूप से ही सब विश्व व्याप्त है सभी कहीं ।
सब जीव मुझी में जान किन्तु में उनमें रहता कभी नहीं ।।

(न च मत्स्थानि भूतानि······५)

ये प्राणी मुझमें नहीं किन्तु मम देख योग-बल विस्तारा ।
उत्पन्न व पालन करता हूँ मैं तदपि रहूँ सबसे न्यारा ।।

(यथाकाशस्थितो नित्यम्······६)

जैसे सर्वत्र गमनकारी नभ में रहता है वायु महान् ।
तू इसी भाँति सम्पूर्ण जगत् के जीव मुझी में रहते जान ।।

(सर्वभूतानि कौन्तेय······७)

कल्पान्त समय लय होते मेरी प्रकृति बीच प्राणी सारे ।
जब होता कल्पारम्भ तभी फिर रचूँ उन्हें न्यारे न्यारे ।।

(प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य······८)

करके स्वीकार प्रकृति अपनी, रचता हूँ बारम्बार सदा ।
इस भूतसंघ को प्रकृति-वश्य जो विवश हुआ लाचार सदा ।।

(न च मां तानि कर्माणि······९)

प्रिय ! किन्तु मुझे ये कर्म धनंजय ! बाँध नहीं सकते हे तात ।
आसक्ति रहित मैं उदासीन-सा रहकर कर्म करूँ दिन रात ।।

(मयाध्यक्षेण प्रकृतिः······१०)

यह प्रकृति चराचर को रचती पाकर मेरा अधिकार सदा ।
इससे कौन्तेय ! जगत् परिवर्तन होता बारम्बार सदा ।।

(अवजानन्ति मां मूढाः······११)

अपमान करें वे मूढ़, मुझे नर तनधारी जो नर माने।
मैं ही सब भूत महेश्वर हूँ, मम श्रेष्ठ भाव वे बिन जाने॥

(मोघाशा मोघकर्माणो······१२)

आशाएँ, ज्ञान, कर्म जिनके सब व्यर्थ कुमति मतिहीन महा।
वे असुर राक्षसों सी मोहात्मक प्रकृति अधीन मलीन महा॥

(महात्मानस्तु मां पार्थ······१३)

हे पार्थ ! महात्मा जन तो होकर दैवी प्रकृति अधीन सदा।
भूतादि जान मुझ अव्यय को भजते होकर तल्लीन सदा॥

(सततं कीर्तयन्तो माम्······१४)

मम कीर्त्तन करें निरन्तर दृढ़व्रत, यत्न कभी नहिं तजते हैं।
नित करते हुए भक्ति से वन्दन, नित्य मुझे ही भजते हैं॥

(ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये······१५)

कुछ द्वैत और अद्वैत लिए, कुछ ज्ञान-यज्ञ से यजते हैं।
मुझ विश्वरूप को कुछ मुनि बहुधा विविध भाव से भजते हैं॥

(अहं क्रतुरहं यज्ञः······१६)

मैं श्रौतस्मार्त यज्ञ हूँ, मैं ही स्वधा व औषधि प्राण निधान।
मैं मंत्र और घृत, अग्नि, होममय क्रिया परम कल्याण निधान॥

(पिताहमस्य जगतो······१७)

मैं ही जगत्-पिता, माता, जगपोषक और पितामह भी।
मैं परम वेद्य, शुचि ओंकार, ऋक्, साम, यजु हूँ वेद सभी॥

(गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी······१८)

प्रभु, पोषक, मित्र, शरण, साक्षी, गति सर्व निवासस्थान महा।
उत्पत्ति, प्रलय, पालन मैं हूँ, मैं अव्यय बीज निधान महा॥

(तपाम्यहमहं वर्षम्……१९)

मैं विश्व तपाता, वृष्टि रोकता, जल भी बरसाता मैं ही।
मैं अमृत मृत्यु सब कुछ अर्जुन! सत् और असत् भ्राता मैं ही॥

(त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा……२०)

त्रैविद्य कर्मरत विगतपाप नर सोमपान इच्छुक श्रीमान्,
नित विविध यज्ञ कर मुझे पूजते स्वर्ग लालसा लिये महान्।
वे नर सुरेन्द्र का पुण्य-लोक पाकर बसते चिरकाल वहीं;
फिर नित्यमेव सुरभोग भोगते नित नव दिव्य विशाल वहीं॥

(ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालम्……२१)

वे स्वर्गलोक सुविशाल भोगकर, विविध भोग हँसते-हँसते,
जब होता पुण्य समाप्त तभी फिर मृत्युलोक में आ फँसते।
जो यों तीनों वेदों में वर्णित—कर्म-फलों में रत होते;
वे विषयभोग-लम्पट-प्राणी नित आवागमन पड़े रोते॥

(अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्……२२)

जो भक्त अनन्यासक्त हुए, चिन्तन कर मुझे भजें दिन रात।
उन नित्ययुक्त पुरुषों का मैं नित योग-क्षेम करूँ हे तात॥

(येप्यन्यदेवता भक्ता……२३)

जो भक्त और देवों को भजते, श्रद्धा भक्ति-विलीन महा।
वे भी मुझ को ही पूज रहे कौन्तेय! किन्तु विधिहीन महा॥

(अहं हि सर्वयज्ञानाम्……२४)

मैं सब यज्ञों का भोक्ता, मैं ही सर्वलोक स्वामी भगवान्।
पर नहीं जानते मुझे तत्त्व से गिरें इसी से वे अनजान॥

(यान्ति देवव्रता देवान्……२५)

सुर, असुर और भूतों के पूजक नित्य उन्हें ही पाते हैं।
हे पार्थ! किन्तु मेरे पूजक जन भक्त मुझे पा जाते हैं॥

(पत्रं पुष्पं फलं तोयम्……२६)

जो प्रेम भक्ति से अर्पे मुझको पत्र पुष्प फल या जल दान।
वह प्रेम-समर्पित प्रयतात्मा की ग्रहण करूँ मैं भेंट महान्॥

(यत्करोषि यदश्नासि……२७)

नित कर्म करो जो भी कुछ तुम, प्रिय भोजन हवन यज्ञ तप दान।
सब करो समर्पित मेरे ही, कौन्तेय! तभी होगा कल्याण॥

(शुभाशुभफलैरेवम्……२८)

इस भाँति शुभाशुभ-कर्मफलों का बन्धन सब कट जायेगा।
संन्यास-योग में युक्त-चित्त हो मुक्त मुझे फिर पायेगा॥

(समोऽहं सर्वभूतेषु……२९)

नहिं शत्रु न मेरा प्रिय कोई मैं सब भूतों में एक समान।
जो भक्ति भाव से भजें मुझे, वे मुझ में, मुझे उन्हीं में जान॥

(अपि चेत्सुदुराचारो……३०)

जो महा दुराचारी भी भजता मुझे अनन्यासक्त हुआ।
शुचि साधु समझना उसे सुनिश्चयवान् वही मम भक्त हुआ॥

(क्षिप्रं भवति धर्मात्मा……३१)

हो शीघ्र परम धर्मात्मा शाश्वत-शान्ति यहीं पा जाता है।
कौन्तेय! जान लो सत्य भक्त मम नष्ट नहीं हो पाता है॥

(मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य……३२)

जो पार्थ! ममाश्रित हुए यदपि वे पापयोनि में पड़े कहीं।
स्त्री, वैश्य तथैव शूद्र तक भी, सब पा जाते गति श्रेष्ठ यहीं॥

(किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः……३३)

फिर शुद्ध ब्राह्मणों का भक्तों राजर्षिवरों का क्या कहना।
यह क्षणभंगुर दुःखद जग पाकर प्रिय नित्य मुझे भजते रहना॥

(मन्मना भव मद्भक्तो······३४)

हो भक्त लगा मन मुझ में ही, कर वन्दन यजन युक्त होकर ।
कर चित्त मत्परायण मुझमें ही होगा लीन मुक्त होकर ॥

॥ नवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

दसवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले— (भूय एव महाबाहो !······१)

अब और महाबाहो ! मेरी प्रिय परम श्रेष्ठ यह बात सुनो ।
तुम मुझे परम प्रिय हो इससे हितकर कहता हूँ तात ! सुनो ॥

(न मे विदु : सुरगणाः······२)

सुरगण या महर्षिजन मेरी उत्पत्ति जानते नहीं सही ।
मैं सब प्रकार से सुर-ऋषियों का आदिपुरुष हूँ ब्रह्म वही ॥

(यो मामजमनादिं च······३)

अज और अनादि व लोक महेश्वर मुझको जिसने पहिचाना ।
सुन सब पापों से छुटे वही नर पुरुषों में ज्ञानी माना ॥

(बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः······४)

सद्बुद्धि व ज्ञान अमूढभाव सत्क्षमा सत्य मन शमन सदा ।
सुख दुःख और उत्पत्ति प्रलय भय अभय इन्द्रियाँ दमन सदा ॥

(अहिंसा समता तुष्टिः······५)

तप दान अहिंसा यश अपयश संतुष्टि व समता भाव कभी ।
उत्पन्न मुझी से भिन्न-भिन्न होते जीवों के भाव सभी ॥

(महर्षयः सप्त पूर्वे······६)

वे सप्त महर्षि व चारों मुनिवर, पहले चौदह मनु मतिमान् ।
मद्भाव मानसिक संकल्पज, उपजे जिनसे जगजीव महान् ॥

(एतां विभूतिं योगं च······७)

मम दिव्य विभूति व योग तत्त्व से जो नर जाने ठीक कहीं।
वह निश्चय निश्चल योग युक्त हो, इसमें कुछ सन्देह नहीं॥

(अहं सर्वस्य प्रभवो······८)

उत्पादक हूँ सब का मैं ही, सब का हूँ नित्य प्रवर्त्तक भी।
यह जान मुझे भजते ज्ञानी जन भाव भक्ति से पूर्ण सभी॥

(मच्चित्ता मद्गतप्राणाः······९)

मन प्राण मुझी में लगा परस्पर बोध करें मेरा ही तात!
मम कथन करें संतुष्ट रहें रमते मुझ में ही जो दिन रात॥

(तेषां सततयुक्तानाम्······१०)

हो युक्त निरन्तर प्रीति भाव से भजते जो प्रिय सखे! मुझे।
मैं बुद्धियोग दूँ उन्हें वही जिससे कि प्राप्त हो सकें मुझे॥

(तेषामेवानुकम्पार्थम्······११)

उन पर कृपार्थ अज्ञान-तिमिर का ज्ञानदीप से नाश करूँ।
मैं बैठ उन्हीं के हृदय ज्ञान की जगमग ज्योति प्रकाश करूँ॥

अर्जुन बोले— (परं ब्रह्म परं धाम······१२)

प्रभु परम्ब्रह्म हो परमधाम, अति पावन प्रभो! आप भगवान्।
अज दिव्य पुरुष अविनाशी शाश्वत आदिदेव विभु आप महान्॥

(आहुस्त्वामृषः सर्वे······१३)

नारद देवर्षि असित देवल मुनि व्यास ऋषीश्वर सभी यही।
प्रभु कहते हैं फिर स्वयं आप भी अपने मुख से मुझे वही॥

(सर्वमेतदृतं मन्ये······१४)

हे केशव! जो कुछ कहते हो मैं सत्य मानता हूँ सोई।
प्रभु व्यक्ति आपकी नहीं जानते देव और दानव कोई॥

(स्वयमेवात्मनात्मानम्······१५)

हे पुरुषोत्तम देवदेव भूतेश भूतभावन स्वामी।
स्वमेव जानते आप आपको जगत्पते ! अन्तर्यामी॥

(वक्तुमर्हस्यशेषेण······१६)

प्रभु जो जो दिव्य-विभूति लिये सम्पूर्ण जगत् में व्यापक हो।
वे वे निज दिव्य विभूति मुझे सम्पूर्ण रूप से आप कहो॥

(कथं विद्यामहं योगिं······१७)

तव चिंतन करता हुआ सदा योगेश ! तुम्हें कैसे जानूँ।
हे भगवन् ! किन किन भावों में तव चिंतन करूँ व पहिचानूँ॥

(विस्तरेणात्मनो योगम्······१८)

वह निज विभूति विस्तार जनार्दन ! योग-शक्ति भी कहो सभी।
सुनते सुनते वचनामृत मेरी तृप्ति न होती नाथ ! अभी॥

श्री भगवान् बोले—(हन्त ते कथयिष्यामि······१९)

हे कुरुश्रेष्ठ ! मम दिव्य विभूति अनन्त अनेक अपार महान्।
सुन तात ! कहूँगा मुख्य मुख्य जो जो मम दिव्य विभूति प्रधान॥

(अहमात्मा गुडाकेश !······२०)

हे गुडाकेश ! सब जीवों का मैं आत्मरूप उर-पुरवासी।
मैं जीव-मात्र का आदि मध्य हूँ अन्त तथा सद्गुणराशी॥

(आदित्यानामहं विष्णुः······२१)

आदित्य-वर्ग में विष्णु देव हूँ सूर्य ज्योतियों में जानो।
सब नक्षत्रों में चन्द्र, मरुद्गण बीच मरीचि मुझे मानो॥

(वेदानां सामवेदोऽस्मि······२२)

मैं सब वेदों में सामवेद हूँ, देवों में देवेन्द्र महान्।
मन इन्द्रिगण में हूँ, जीवों में जीवनकला चेतना जान॥

(रुद्राणां शंकरश्चास्मि......२३)

रुद्रों में शंकर हूँ, कुवेर हूँ यक्ष राक्षसों में हे तात !
मैं वसुओं में पावक, सुमेरु हूँ श्रेष्ठ पर्वतों में विख्यात ॥

(पुरोधसां च मुख्यं माम्......२४)

हे पार्थ ! पुरोहितगण में मुझे वृहस्पति मुख्य पुरोहित जान ।
सेनापतियों में कार्त्तिकेय हूँ, मुख्य सरों में सागर मान ॥

(महर्षीणां भृगुरहम्......२५)

भृगु परम श्रेष्ठ ऋषियों में हूँ, सब वचनों में ओंकार प्रधान ।
मैं यज्ञों में जप-यज्ञ, हिमालय शैल थावरों बीच महान् ॥

(अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्......२६)

अश्वत्थ सभी वृक्षों में हूँ, देवर्षिवरों में नारद हूँ ।
मैं श्रेष्ठ चित्ररथ गन्धर्वों, सिद्धों में कपिल विशारद हूँ ॥

(उच्चैश्रवसमश्वानाम्......२७)

अश्वों में उच्चैश्रवा अश्व, उत्पन्न अमृत से जान मुझे ।
ऐरावत श्रेष्ठ गजेन्द्रों में, पुरुषों में राजा मान मुझे ॥

(आयुधानामहं वज्रम्......२८)

मैं सब शस्त्रों में वज्र महा, सर्पों में वासुकि नाम कहा ।
मैं गउओं में सुर-धेनु, प्रजा उत्पत्तिकरों में काम रहा ॥

(अनन्तश्चास्मि नागानाम्......२९)

मैं शेषनाग हूं नागों में, सब जलचर बीच वरुण हूँ तात ।
मैं पितर अर्यमा पितरों में, यमराज शासकों में विख्यात ॥

(प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम्......३०)

प्रह्लाद भक्त हूँ दैत्यों में, गिनने वालों में काल महा ।
सब पक्षिगणों में गरुड़, सिंह मृग पशुओं में विकराल महा ॥

(पवनः पवतामस्मि······३१)

मैं शस्त्रधरों में राम, पवन परिपूत पावनों बीच कहा।
मैं मीनगणों में मगर, श्रोत नदियों में गंगाधाम महा॥

(सर्गाणामादिरन्तश्च······३२)

मैं सर्व-सृष्टि का आदि अन्त हूँ, अर्जुन! मुझे मध्य भी जान।
विद्याओं बीच ब्रह्मविद्या, वादी पुरुषों का वाद महान॥

(अक्षराणामकारोऽस्मि······३३)

मैं सर्व समासों बीच द्वन्द्व हूँ, वर्णों में हूँ वर्ण अकार।
मैं अक्षय काल विराट् रूप हूं, धाता धारण पोषणहार॥

(मृत्युः सर्वहरश्चाहम्······३४)

मैं मृत्यु सर्व-संहारक हूँ, मैं मूल भविष्यत् सर्गों में।
श्री वाणी क्षमा कीर्त्ति धृति मेधा स्मृति आदिक स्त्रीवर्गों में॥

(बृहत्साम तथा साम्नाम्······३५)

मैं बृहत्साम हूँ सामों में, सब ऋतुओं में ऋतुराज बसन्त।
सब छन्दों में हूँ गायत्री, मासों में मंगसिर मास द्युमन्त॥

(द्यूतं छलयतामस्मि······३६)

कपटी छलियों में द्यूत कहा, तेजस्विजनों में तेज अनन्त।
सात्विक पुरुषों में सत्व-भाव हूँ, विजय व उद्यम हूँ अत्यन्त॥

(वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि······३७)

मैं वृष्णिगणों में वासुदेव, मुनियों में व्यास मुनीश्वर हूँ।
मैं पांडव बीच धनंजय हूँ, कवियों में शुक्र कवीश्वर हूँ॥

(दण्डो दमयतामस्मि······३८)

मैं दण्ड दमनशीलों का हूँ, विजयी की हूँ दृढ़नीति सदा।
मैं ज्ञान अखण्ड ज्ञानियों का, गुप्तों की हूँ चुप रीति सदा॥

(बीजं मां सर्वभूतानाम्……३९)

जो बीज सकल जीवों का वह मैं ही हूँ एक जगत् भर में।
अर्जुन ! मेरे बिन वस्तु नहीं कुछ भी सम्पूर्ण चराचर में ॥

(नान्तोऽस्मि मम दिव्यानाम्……४०)

मम दिव्य विभूति अनन्त परंतप ! जिनका कोई पार नहीं।
विस्तार कहे संक्षेप रूप कुछ निज विभूति के सार यहीं ॥

(यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम्……४१)

हाँ जो जो वस्तु विभूति शक्ति श्री कांतियुक्त जग में जानो।
वह सभी वस्तु मम तेज अंश से ही उत्पन्न हुई मानो ॥

(अथवा बहुनैतेन……४२)

क्या अधिक जानने से अर्जुन ! इतना कहना पर्याप्त सखे !
मैं अपने एक अंश से ही, सारे जग में हूँ व्याप्त सखे !

॥ दसवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुन ने कहा— (मदनुग्रहाय परमम्……१)

यह गुप्त रहस्य दया करके अध्यात्म रूप से कहा अभी।
इस ज्ञान-रूप-रवि से मेरा अज्ञान-मोह-तम मिटा सभी ॥

(भवाप्ययौ हि भूतानाम्……२)

प्रभु ! जीवों के उत्पत्ति प्रलय का मैंने सब विस्तार सुना।
फिर अक्षय-रूप-प्रभाव आपका कमलनयन बहु बार सुना ॥

(एवमेतद्यथात्थ त्वम्……३)

अपने को जैसा कहते हो हे प्रभो ! वही विश्वास मुझे।
पर पुरुषोत्तम ! ऐश्वर्य-रूप के दर्शन की अभिलाष मुझे ॥

(मन्यसे यदि तच्छक्यम्……४)

निज योग-स्वरूप दिखाने को यदि मुझे योग्य समझें स्वामी।
तब अपना अव्यय रूप दिखाओ योगेश्वर अन्तर्यामी॥

श्रीभगवान् बोले—(पश्य मे पार्थ रूपाणि……५)

हे पार्थ! रूप देखो मेरे अति अद्भुत विविध अनूप अपार।
अति दिव्य सैंकड़ों और सहस्रों विविध वर्ण नाना आकार॥

(पश्यादित्यान् वसून्रुद्रान्……६)

आदित्य रुद्रगण वसु अश्विन हे भारत! देख मरुद्गण भी।
आश्चर्यपूर्ण सम्पूर्ण देख, जो पहले देखे नहीं कभी॥

(इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम्……७)

एकत्र देख सम्पूर्ण चराचर जगत् मुझी में अभी यहीं।
हे गुडाकेश! जो और देखना चाहो देखो सभी यहीं॥

(न तु मां शक्यसे द्रष्टुम्……८)

कौन्तेय! किन्तु तू इन आँखों से देख सकेगा नहीं मुझे।
मम योग-शक्ति देखो देता हूँ दिव्य-दृष्टि अब यहीं तुझे॥

संजय ने कहा— (एवमुक्त्वा ततो राजन्……९)

राजन् यों कहकर तभी महा योगेश्वर हरि ने परम विशाल।
तत्काल पार्थ को दिखलाया ऐश्वर्य स्वरूप परम विकराल॥

(अनेकवक्त्रनयनम्……१०)

मुख नयन अनेकों थे अद्भुत था दिव्य स्वरूप अनूप महा।
बहु भूषण दिव्य अनेकों ही थे दिव्य शस्त्र अनुरूप महा॥

(दिव्यमाल्याम्बरधरम्……११)

बहु दिव्य गंध माला धारे थे दिव्य शस्त्र अद्भुत सब ठाठ।
था सर्वाश्चर्य-प्रपूर्ण देव का दिव्य अनन्त स्वरूप विराट्॥



(दिवि सूर्यसहस्रस्य……१२)

नभ उदय सहस्रों सूर्यों का हो तेजपुञ्ज यदि एक महान।
वह प्रभा महात्मा प्रभु के तब कुछ हो उस अतुलित तेज समान॥

(तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम्……१३)

तब विविध भाँति से बँटा हुआ देखा एकत्र जगत् सारा।
उस देवदेव के दिव्य देह में अर्जुन निरख निरख हारा॥

(ततः स विस्मयाविष्टो……१४)

विस्मय से चकित हुए अर्जुन रोमांच देह में उठा सभी।
तत्काल धनंजय सीस नवाकर यों बोले कर जोड़ तभी॥

अर्जुन बोले— (पश्यामि देवांस्तव देव देहे……१५)

हे देवदेव ! सब देव आपके दिव्य देह में देख रहा।
मैं देख रहा हूँ अखिल चराचर जीवगणों का संघ महा॥
कमलासन ईश्वर ब्रह्मा भी कमलासन बीच विराज रहे।
ऋषिगण सम्पूर्ण दिव्य पन्नगवर सभी इसी में साज रहे॥

(अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्……१६)

हरि ! बाहु अनेक उदर अनगिन हैं मुख अद्भुत विकराल स्वरूप।
मैं नेत्र अनेकों देख रहा सर्वत्र अनन्त स्वरूप अनूप॥
हे विश्वेश्वर ! तव आदि न मध्य न अन्त दीखता है सुरभूप।
मैं देख रहा सर्वत्र आपका विश्वरूप ! यह अद्भुत रूप॥

(किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च……१७)

सिर मुकुट मनोहर धरे, करों में गदा चक्र धारे भगवान्।
अति तेजपुञ्ज प्रभु करते हो सब ओर अनन्त प्रकाश महान्॥
प्रभु दीख रहे हो दुर्निरीक्ष्य भगवन् ! चहुँ ओर अनन्त अपार।
संदीप्त अग्नि रवि तेज सदृश मैं देख रहा हूँ द्युति विस्तार॥

(त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्······१८)

हे प्रभो ! जानने योग्य तुम्हीं हो अक्षर परम ब्रह्म गोपार।
सब भाँति आप ही हो प्रभु ! इस सम्पूर्ण विश्व के सर्वाधार ॥
तुम धर्म सनातन के संरक्षक अव्यय अविनाशी अविकार।
मेरे मत में प्रभु तुम्हीं सनातन पुरुष सर्व-गुण-पारावार ॥

(अनादिमध्यान्तमनंतवीर्यम्······१९)

नहिं आदि न मध्य न अन्त आपका विक्रम अतुल अनन्त महा।
रवि चन्द्र अलौकिक नेत्र अनन्त भुजा भगवन् ! मैं देख रहा ॥
प्रज्वलित अग्नि-मुख तुम्हें प्रभो ! मैं देख रहा सर्वत्र अभी।
संतप्त कर रहे हो अपने सुप्रचण्ड तेज से जगत् सभी ॥

(द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि······२०)

आकाश भूमि अन्तर एवं सम्पूर्ण दिशाओं में स्वामी।
प्रभु ! एक आप ही व्याप रहे सर्वत्र विभो ! अन्तर्यामी ॥
हे कृष्ण महात्मन् ! अति अद्भुत यह रूप आपका हे भगवान्।
अति उग्र भयंकर देख सभी त्रैलोक्य हुआ भयभीत महान् ॥

(अमी हि त्वां सुरसंघा विशन्ति······२१)

हे प्रभो ! आप ही में सारे सुर-संघ समाते जाते हैं।
भयभीत हुए सुर कितने ही कर जोड़े प्रभु गुण गाते हैं ॥
कह कह कर स्वस्ति महर्षि सिद्ध-गण अपना श्रेय मनाते हैं।
अति उत्तम स्तुतियाँ सुना सुना कर भगवन् ! तुम्हें रिझाते हैं ॥

(रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या······२२)

बारह आदित्य रुद्र ग्यारह वसु आठ साध्यगण सभी महान्।
सब विश्वेदेव मरुद्गण अश्विन पितर-वृन्द बल तेज निधान ॥
गन्धर्व यक्ष सुरगण सिद्धों के संघ विचित्र अनेक यहीं।
सब होकर चकित आपको ही प्रभु देख रहे प्रत्येक यहीं ॥

(रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रम्······२३)

यह रूप महान् महाबाहो ! इसमें बहु मुख बहु नेत्र महान् ।
बहु बाहु अनेकों जंघायें बहु चरणयुक्त त्रैलोक्य निधान ॥
बहु उदर अनेकों ही डाढ़ें प्रभु ! अति कराल हैं काल समान ।
यह देख डर रहे लोक सभी भयभीत हुआ मैं भी भगवान् ॥

(नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम्······२४)

यह नभचुंम्बी अति दीप्तिमान् बहु रंग बिरंगा रूप अनूप ।
मुख खुले, नेत्र जगमग बलते अत्यन्त विशाल विराट् स्वरूप ॥
यह रूप देखकर मन मेरा, भय से अति व्याकुल है स्वामी ।
अब धीरज रहा नहीं विष्णो ! फिर शान्ति कहाँ अन्तर्यामी ॥

(दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि······२५)

ये अति कराल डाढों वाले मुख दीख रहे विकराल महा ।
जैसे प्रलयाग्नि प्रचण्ड रूप धर जग-संहारक काल महा ॥
यह देख दिशाएँ भूल गया, देवेश ! मुझे सुख-लेश नहीं ।
हे जगन्निवास ! दयासिन्धो ! जन पर प्रसन्न हो अभी यहीं ॥

(अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः······२६)

अपने नृप-संघों सहित आपमें ये धृतराष्ट्र पुत्र सारे ।
श्री द्रोण भीष्म वह कर्ण और निज मुख्य सुभट न्यारे न्यारे ॥

(वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति······२७)

इन अति कराल डाढों वाले विकराल मुखों में आन सभी ।
ये बहुत वेग से दौड़ दौड़ कर समा रहे बलवान् सभी ॥
कुछ दीख रहे भटवर दाँतों के बीच लिपटते जाते हैं ।
डाढों से कुचले हुए अहो ! जिनके सिर पिसते जाते हैं ॥

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः……२८)
बहु जल प्रवाह नदियों के ज्यों सागर प्रति बहते जाते हैं।
यों ही तव ज्वालमुखों में ये सब सुभट सवेग समाते हैं॥
(यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गाः……२९)
ज्यों नाश-हेत प्रज्वलित अग्नि में पड़ें पतङ्ग अनेकों ही।
यों ही धसते तव ज्वाल-मुखों में भट सवेग मरने को ही॥
(लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्……३०)
इन ज्वालमुखों से सब लोकों को ग्रसन कर रहे हो भगवान्।
प्रभु ! सभी ओर से सारे जग को चाट रहे हो काल समान॥
जग में भरपूर हुईं विष्णो ! तव उग्र प्रभाएँ तेज निधान।
सम्पूर्ण जगत् को निजी तेज से तपा रही हैं काल समान॥
(आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो……३१)
प्रभु ! कहिये मुझसे आप कौन हैं धरके उग्र स्वरूप महान्।
मैं सविनय करूँ प्रणाम देववर ! हो प्रसन्न अब दया निधान॥
सर्वादि आपको तथ्य जानना शीघ्र चाहता हूँ स्वामी।
मैं नहीं जानता प्रभो ! आपके गहन कर्म अन्तर्यामी॥
श्रीभगवान् बोले— (कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो……३२)
मैं सर्व-लोक संहारक उत्कट काल रूप धर आया हूँ।
मैं यहाँ जगत् संहार-हेत विकराल रूप धर आया हूँ॥
ये तेरे बिन भी सब रिपु दल के सुभट नहीं रह पायेंगे।
तू लड़ मत लड़ ये तदपि उपस्थित वीर नष्ट हो जायेंगे॥
(तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व……३३)
अतएव उठो यश प्राप्त करो रिपुओं पर पाकर विजय महान्।
फिर तो धन-धान्य पूर्ण निष्कंटक राज्य भोगिये स्वर्ग समान॥
मैंने पहले ही मार दिये जितने भी सुभट मुख्य सारे।
तुम तो यश लो बस निमित्त बनकर सव्यसाचि अर्जुन प्यारे॥

(द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च······३४)

श्री द्रोणाचार्य व भीष्म पितामह और जयद्रथ वीर महा।
कर्णादि हते फिर और अनेकों मुख्य मुख्य रणधीर महा॥
मुझसे निहतों को मारो रण में युद्ध करो भयभीत न हो।
तुम शत्रुगणों में जीतोगे, यह कौन कहें तव जीत न हो॥

संजय बोले— (एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य······३५)

सुन कर यों केशव वचन मुकुटधारी अर्जुन भयभीत हुए।
अत्यन्त काँपते हुए उभय कर जोड़ महान् विनीत हुए॥
फिर होकर गद्गद् कंठ वन्दना करते हुए पार्थ बोले।
भगवान् कृष्ण से डरते डरते वचन विनीत सुधा घोले॥

अर्जुन बोले— (स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या······३६)

सब जगत् आपके कीर्त्तन से अतिशय हर्षित होता स्वामी।
यह सभी उचित है क्योंकि जगत् अनुरक्त आपका अनुगामी॥
राक्षस गण दसों दिशाओं में भयभीत हुए सब भाग रहे।
हे हृषीकेश ! सब सिद्ध-संघ कर कर प्रणाम वर माँग रहे॥

(कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्······३७)

क्या हेतु महात्मन् ! नहीं करें जो तुम्हें प्रणाम जगत्स्वामी।
हो सब से श्रेष्ठ आदि कर्त्ता ब्रह्मा के भी अन्तर्यामी॥
प्रभु हे अनन्त देवेश महात्मन् ! जगन्निवास ! दयासिन्धो !
सत् और असत् इन से भी आगे अक्षर ब्रह्म दीनबन्धो !

(त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः······३८)

तुम आदि देव हो तथा पुरातन पुरुष तुम्हीं हो हे भगवान्।
तुम परम धाम हो सकल विश्व के तुम्हीं परम आधार प्रधान॥
प्रभु तुम्हीं जानने वाले हो हरि ! तुम्हीं जानने योग्य महान।
तुम धरके अनन्त रूप विश्व में व्याप रहे हो एक समान॥

(वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः······३९)

तुम वायु अग्नि यम वरुण चन्द्रमा आदि सुरेश अनेक तुम्हीं ।
हो ब्रह्मा तुम्हीं पितामह के भी पिता प्रभो ! प्रत्येक तुम्हीं ॥
भगवान् ! सहस्रों बार प्रणाम, प्रणाम सुरेश जगद्विश्राम ।
हे स्वामिन् ! बारम्बार प्रणाम, प्रणाम करोड़ों बार प्रणाम ॥

(नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते······४०)

हरि ! आगे से, फिर पीछे से भी तुम्हें प्रणाम सुरेश ललाम ।
फिर चहूँ ओर से हे सर्वात्मन् ! तुम्हें प्रणाम प्रणाम प्रणाम ॥
बलवीर्य अनन्त पराक्रमशाली तुम्हीं अनन्त गुणों के धाम ।
हो तुम्हीं सभी में व्याप्त इसी से सर्वरूप हो हे घनश्याम ॥

(सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तम्······४१)

मैं सखा जानकर प्रभो ! आपकी महिमा से अनजान रहा ।
हठ से या प्रेम-प्रमाद विवश, हे यादव कृष्ण ! सखेति कहा ॥

(यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि······४२)

जो जो आहार विहार समय या बैठे हुए अकेले में ।
या सोते समय सखाओं के सन्मुख या किसी झमेले में ॥
हे अच्युत ! तुम्हें हँसाने को अपमान और अपराध करे ।
मैं क्षमा माँगता हूँ सबकी, हे अतुलित परम प्रभाव हरे ॥

(पितासि लोकस्य चराचरस्य······४३)

हे प्रभु ! सम्पूर्ण चराचर जग के परम पिता हो तुम्हीं प्रधान ।
अति पूजनीय हो गुरुओं के भी परम गुरू हो ज्ञान निधान ॥
प्रभु आप समान त्रिलोकी में भी, कोई और नहीं भगवान् ।
फिर तुमसे श्रेष्ठ और कौन, हे अतुलित परम प्रभाव महान् ॥

(तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायम्······४४)

अतएव चरण-कमलों में पड़कर सिर चरणों में धरता हूँ।
स्तुति योग्य आपको हे ईश्वर ! मैं सविनय प्रणाम करता हूँ॥
ज्यों पिता पुत्र के, सखा मित्र के, पत्नी के प्रियतम प्यारे।
अपराध देव ! यों ही मेरे भी सहन योग्य हो कंसारे॥

(अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा······४५)

जो पहले कभी नहीं देखा, यह रूप देख करके स्वामी।
अति हर्षित हूँ पर मन भय से अति व्याकुल है अन्तर्यामी॥
हे स्वामिन् ! वही स्वरूप मुझे दिखलाओ हे मोहन घनश्याम।
हे देवेश ! प्रसन्न होइये जगदाधार सुरेश ! प्रणाम॥

(किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम्······४६)

शुभ सीस मुकुट कर चक्र सुदर्शन गदा धरे प्रिय रूप अनूप।
मैं उसी रूप में तुम्हें देखने को इच्छुक हूँ हे सुरभूप॥
हे सहस्रभुज ! विश्वमूर्त्ति मनमोहन वही स्वरूप धरो।
श्री कृष्ण चतुर्भुज रूप किये भगवन् ! मेरा भय दूर करो॥

श्रीभगवान् बोले— (मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम्······४७)

मैंने प्रसन्न होकर तुमको यह रूप अनूप दिखाया है।
निज आत्म-योग-बल से अर्जुन ! यह अद्भुत रूप बनाया है॥
यह अति तेजोमय आदि अनादि अनन्त विराट् स्वरूप अनूप।
तेरे अतिरिक्त नहीं देखा, यह पहिले और किसी ने रूप॥

(न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैः······४८)

न कि वेद व यज्ञों के पढ़ने से, नहीं दान करने से भी।
नहिं विहित कर्म से उग्र तपों से नहीं ध्यान धरने से भी॥
कुरुवीर सकल नर-लोक बीच, हो पण्डित मूर्ख रंक या भूप।
अतिरिक्त तुम्हारे कोई ऐसा देख नहीं सकता है रूप॥

(मा ते व्यथा मा च विमूढभावो······४६)

यह मेरा घोर स्वरूप देख कर मूढ़ न हो मत घबरा तू।
अब निर्भय प्रसन्न मन हो, मेरा पुनः वही दर्शन पा तू॥

संजय बोले— (इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा······५०)

यह कहकर अर्जुन से हरि ने निज रूप वही फिर दिखलाया।
धर सौम्य रूप भयभीत पार्थ को धीरज देकर समझाया॥

अर्जुन बोले— (दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम्······५१)

यह परम सौम्य नर-रूप जनार्दन! देख आपका महा प्रभो!
चित शान्त हुआ जैसा पहले था, वैसा ही अब हुआ विभो!

श्रीभगवान् बोले— (सुदुर्दर्शमिदं रूपम्······५२)

दुर्दर्श सुदुर्लभ रूप जोकि देखा तुमने यह तात अभी।
इस दर्शन हित लालायित रहते सुरगण भी दिन रात सभी॥

(नाहं वेदैर्न तपसा······५३)

सब वेदों का स्वाध्याय दान तप यज्ञ किये पर भी सारे।
नर देख नहीं सकता मुझको, जैसा तुमने देखा प्यारे॥

(भक्त्या त्वनन्यया शक्य······५४)

हाँ किन्तु अनन्य भक्ति से अर्जुन सभी परंतप! सुलभ यथा।
यों मुझे जानना ठीक तत्त्व से दर्शन होना लीन तथा॥

(मत्कर्मकृन्मत्परमो······५५)

निस्संग मत्परायण होकर मेरे ही लिये कर्म बोता।
हो जीव मात्र से वैर रहित, वह भक्त मुझी में लय होता॥

॥ ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

बारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— (एवं सततयुक्ता ये······१)

जो भक्त निरन्तर तुम्हें भजें या जो अक्षर अव्यक्त महान् ।
इन दोनों में उत्तम योगी अति श्रेष्ठ कौन होते भगवान् ॥

श्रीभगवान् बोले—(मय्यावेश्य मनो ये माम्······२)

जो नित्यमेव मन लगा मु ी में श्रद्धा भक्ति पूर्ण धीमान् ।
नित युक्त मुझे ही भजते मानूँ उन्हें श्रेष्ठ योगी श्रीमान् ॥

(ये त्वक्षरमनिर्देश्यम्······३)

जो भजते अक्षर अनिर्देश्य अव्यक्त रूप को भृत्य सदा ।
कूटस्थ अचल सर्वत्र व्याप्त जो ध्रुव अचिन्त्य है नित्य सदा ॥

(सन्नियम्येन्द्रियग्रामम्······४)

सब इन्द्रिय गण संयम करके समबुद्धि पुरुष सर्वत्र समान ।
वे सर्वजीव हितकारी पाते नित्य मुझे ही पुरुष महान् ॥

(क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्······५)

अव्यक्त रूप में चित्त लगा जिनका उनको अति क्लेश यहीं ।
अव्यक्त ब्रह्म गति को पाता नर सहकर कष्ट अनेक कहीं ॥

(ये तु सर्वाणि कर्माणि······६)

सब कर्म मुझे ही अर्पण करके नित्य मत्परायण रहते ।
कर ध्यान मुझे ही भजते जो कि—अनन्य योग-पथ में बहते ॥

(तेषामहं समुद्धर्त्ता······७)

यों चित्त जमा जिनका मुझ में झट से उनका उद्धार करूँ ।
संसार मृत्युमय सागर से हे पार्थ ! उन्हें मैं पार करूँ ॥

(मय्येव मन आधत्स्व……८)

मन नित्य मुझी में लगा बुद्धि भी नित्य मुझी में आ धर तू।
प्रिय ! फिर तो निस्संदेह मिलेगा मित्र मुझी में आकर तू ॥

(अथ चित्तं समाधातुम्……९)

यदि अपना चित्त लगाकर मुझमें जमा नहीं सकते सुस्थिर।
अभ्यास-योग से यत्न करो मम हेत धनंजय ! तब तो फिर ॥

(अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि……१०)

अभ्यास योग भी नहीं सधे तो कर्म करो मम हेत सभी।
मम हेत कर्म करते करते भी सिद्धि मिलेगी तुम्हें कभी ॥

(अथैतदप्यशक्तोऽसि……११)

यदि यह भी नहिं हो पार्थ ! योग का आश्रय लो फिर तात अभी।
दृढ़ भक्ति पूर्ण मन संयम करके कर्मों के फल त्याग सभी ॥

(श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्……१२)

अभ्यास योग से ज्ञान श्रेष्ठ है, इससे अधिक जान लो ध्यान।
इससे भी कर्म-फलों का त्याग श्रेष्ठ देता जो शान्ति महान् ॥

(अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्……१३)

जो द्वेष रहित सब जीव मात्र का मित्र व करुणायुक्त सदा।
सुख दु:ख समान क्षमायुत ममता अहंकार से मुक्त सदा ॥

संतुष्टः सततं योगी……१४)

संतुष्ट निरन्तर योगी संयम पूर्ण सदा दृढ़ निश्चयवान्।
मन बुद्धि मुझी में धरता, जो प्रिय भक्त वही मम प्राण समान ॥

(यस्मान्नोद्विजते लोको……१५)

जिस नर से जग को क्लेश नहीं, जो नहीं जगत् से घबराता।
भय हर्ष क्रोध उद्वेग रहित जो वही मुझे है प्रिय भाता ॥

(अनपेक्षः शुचिर्दक्षः······१६)

इच्छा से रहित पवित्र दक्ष जो उदासीन संताप विहीन।
आरम्भ सभी तज देता मम प्रिय भक्त वही मुझ में लवलीन ॥

(यो न हृष्यति न द्वेष्टि······१७)

मन हर्ष व द्वेष नहीं धरता जो शोच कामना तजे सदा।
तजता शुभ और अशुभ फल जो प्रिय भक्त वही जो भजे सदा ॥

(समः शत्रौ च मित्रे च······१८)

सम शत्रु और मित्रों में जो सम मान और अपमान विषे।
आसक्ति रहित रहता नित जो सम शीत उष्ण सुख दुःख जिसे ॥

(तुल्यनिंदास्तुतिर्मौनी······१९)

निंदा स्तुति दोनों तुल्य जिसे जो मिले उसी में तुष्ट सदा।
मौनी स्थिर-मति गृह रहित मुझे प्रिय भक्त वही कि अदुष्ट सदा ॥

(ये तु धर्म्यामृतमिदम्······२०)

इस अमृत धर्म का जो नर विधिवत् पालन करते नित्य सही।
श्रद्धायुत परम परायण मेरे मुझे परम प्रिय भक्त वही ॥

॥ बारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

तेरहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले— (इदं शरीरं कौन्तेय······१)

यह देह क्षेत्र कहलाता है कौन्तेय ! यही कहते विद्वान्।
जो इसे जानता, ज्ञानी जन क्षेत्रज्ञ उसे कहते धीमान् ॥

(क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि······२)

हे भारत ! तू सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान सदा।
जो क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ज्ञान है ज्ञान वही मम मान सदा ॥

(तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च······३)

वह क्षेत्र जहाँ से जो है जैसा, जिस विकारयुत सुनो अभी।
क्षेत्रज्ञ पुनः संक्षेप रूप में जिस प्रभावयुत सुनो सभी॥

(ऋषिभिर्बहुधागीतम्······४)

जिसको ऋषियों ने बहु श्रुतियों में विविध भाँति से गाया है।
बहु ब्रह्म-सूत्र पदों से निश्चित युक्ति-युक्त समझाया है॥

(महाभूतान्यहंकारो······५)

ये पंच तत्त्व फिर अहंकार मम प्रकृति व बुद्धि सुनो प्यारे।
मन और इन्द्रियाँ दसों विषय पाँचों इनके न्यारे न्यारे॥

(इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्······६)

सुख दुःख व इच्छा द्वेष चेतना धृति व देह संघात महा।
यह क्षेत्र विकार सहित मैंने संक्षेप रूप में तुम्हें कहा॥

(अमानित्वमदम्भित्वम्······७)

अभिमान दम्भ हिंसा तजना नित शौच सरलता क्षमा महान।
मन इन्द्रिय-निग्रह थिरता गुरुपद पंकज सेवा भाव प्रधान॥

(इंन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्······८)

वैराग्य सभी इन्द्रिय विषयों में अहंकार तजना हे तात!
नित जन्म मृत्यु में, जरा रोग में लखना दुःख दोष दिन रात॥

(असक्तिरनभिष्वङ्गः······९)

आसक्ति रहित हो पुत्र दार धन घर में लिप्त नहीं होना।
पाकर प्रिय अप्रिय एक-रूप रहना हँसना न कभी रोना॥

(मयि चानन्ययोगेन······१०)

दृढ़ भक्ति अनन्य मुझी में हो नित प्रेमभाव भरपूर सदा।
एकान्त वास हो जन संघों से बचकर रहना दूर सदा॥

(अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्......११)

अध्यात्म ज्ञान में नित्य स्थिति तत्त्वार्थ प्रदर्शन ज्ञान महा।
है ज्ञान यही जग में इसके विपरीत सभी अज्ञान कहा॥

(ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि......१२)

प्रिय जिसे जानकर मोक्ष मिले, सुन ज्ञेय कहूँ सर्वादि वही।
नहिं सत् न असत् जो परम ब्रह्म कहलाता नित्य अनादि वही॥

(सर्वतः पाणिपादं तत्......१३)

सर्वत्र हाथ पद हैं उसके सर्वत्र नेत्र मुख सीस महान्।
सब ओर कान उसके सब में व्यापक सर्वत्र वही भगवान्॥

(सर्वेन्द्रियगुणाभासम्......१४)

द्योतक इन्द्रिय गण विषयों का पर इन्द्रिय रहित अदीन सदा।
हो अनासक्त जग-पालक निर्गुण और गुणों में लीन सदा॥

(बहिरन्तश्च भूतानाम्......१५)

सब जीव मात्र के बाहर भीतर अचर और चर रूप महा।
अति सूक्ष्म इसी से परम अगम है निकट और अति दूर कहा॥

(अविभक्तञ्च भूतेषु......१६)

हो एकरूप भी सब जीवों में पृथक् पृथक् सा दीख रहा।
जग पालक ज्ञेय विनाशक जीवों का उत्पादक वही कहा॥

(ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः......१७)

वह तम से परे ज्योतियों का परमोत्तम ज्योति कहा जाता।
वह ज्ञानगम्य सबके हृदयस्थित ज्ञान ज्ञेय भी कहलाता॥

(इति क्षेत्रं तथा ज्ञानम्......१८)

यह क्षेत्र व ज्ञान तथैव ज्ञेय भी कहा तुम्हें संक्षिप्त यहीं।
यह जान मुझी में लय हो मेरा भक्त न होता लिप्त कहीं॥

(प्रकृति पुरुषंचैव······१६)

ये प्रकृति पुरुष दोनों ही जानो नित्य अनादि स्वरूप महान।
ये त्रिगुण तथैव विकार प्रकृति से ही उत्पन्न हुए तू जान॥

(कार्यकरणकर्तृत्वे······२०)

सुन कार्य करण के रचने में यह प्रकृति निमित्त कही भ्राता।
सुख दुःख भोगने में कारण केवल यह जीव कहा जाता॥

(पुरुषः प्रकृतिस्थो हि······२१)

यह जीवात्मा प्रकृतिस्थ हुआ नित प्रकृति गुणों को भोग रहा।
फिर अच्छी बुरी योनियाँ देता, इसे यही गुण-योग महा॥

(उपद्रष्टानुमन्ता च······२२)

यह उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्त्ता भोक्ता और महेश्वर भी।
यह 'पुरुष' देह में कहा गया है 'परमात्मा' सबसे पर भी॥

(य एवं वेत्ति पुरुषम्······२३)

यों पुरुष और गुण सहित प्रकृति को जोकि—तत्त्व से जानेगा।
वह चाहे कुछ भी करे किन्तु जग में फिर जन्म नहीं लेगा॥

(ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति······२४)

कोई स्व-हृदय में आत्मा को स्वयमेव देखते धरके ध्यान।
कुछ सांख्ययोग से ज्ञानी कर्मठ कर्मयोग से लखें महान॥

(अन्येत्वेवमजानन्तः······२५)

कुछ अज्ञ पुरुष तो औरों से ही सुनकर भजन किया करते।
नित वे भी श्रवण परायण नर संसार मृत्यु-भय को तरते॥

(यावत्संजायते किंचित्······२६)

होते उत्पन्न जगत् में जो भी जीव चराचर जान सभी।
ये क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ योग से ही भरतर्षभ! मान सभी॥

(समं सर्वेषु भूतेषु……२७)

जो सभी विनश्वर जीवों में नित रहता एक समान महा।
उस अविनाशी परमेश्वर को जो देखे सो ही देख रहा॥

(समं पश्यन्हि सर्वत्र……२८)

जो नित्य देखता ईश्वर को सबमें व्यापक है एक समान।
अपने को हनन नहीं करता पद पाता वही परम निर्वाण॥

(प्रकृत्यैव च कर्माणि……२९)

सब कर्म प्रकृति ही करती है सर्वत्र देखता जो कि—यही।
फिर आत्मा नित्य अकर्त्ता को जो लखे देखता वही सही॥

(यदा भूतपृथग्भावम्……३०)

सब जीवमात्र का भिन्नपना एकस्थ देखता पुरुष जभी।
विस्तार उसी से देखे सब, हो ब्रह्म-भाव को प्राप्त तभी॥

(अनादित्वान्निर्गुणत्वात्……३१)

वह निर्गुण और अनादिपने से अविनाशी परमात्म महान्।
कौन्तेय ! देह में भी रहकर करता न लिप्त होता भगवान्॥

(यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात्……३२)

आकाश सर्वगत सूक्ष्मपने से जैसे लिप्त नहीं होता।
सर्वत्र देहगत सूक्ष्म आत्म भी वैसे लिप्त नहीं होता॥

(यथा प्रकाशयत्येक:……३३)

ज्यों एक सूर्य सम्पूर्ण विश्व को पूर्ण प्रकाशित करता है।
त्यों ही भारत ! क्षेत्रज्ञ क्षेत्र को पूर्ण विकासित करता है॥

(क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेव……३४)

यों क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भेद जो ज्ञान-नेत्र से ध्याते हैं।
सविकार प्रकृति से मोक्ष जानते वही ब्रह्म-पद पाते हैं॥

॥ तेरहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

चौदहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—(परं भूयः प्रवक्ष्यामि······१)

अब सब ज्ञानों में श्रेष्ठ ज्ञान मैं कहता हूँ सुन लो प्यारे।
जो ज्ञान मुक्त हो भव-दुख से मुनि सिद्धि पा गए हैं सारे॥

(इदं ज्ञानमुपाश्रित्य······२)

जो इसी ज्ञान का आश्रय ले मेरे स्वरूप हो जाते हैं।
जन्में न सृष्टि में प्रलय काल भी वे न कभी दुख पाते हैं॥

(मम योनिर्महद्ब्रह्म······३)

यह प्रकृति योनि मेरी है, इसमें गर्भ सदा मैं धरता हूँ।
उत्पत्ति इसी से सब जीवों की होती है, मैं करता हूँ॥

(सर्वयोनिषु कौन्तेय······४)

सम्पूर्ण योनियों में जो जो कौन्तेय! मूर्त्तियाँ होतीं तात!
है प्रकृति-योनि उनकी बीजप्रद पिता स्वयं हूँ मैं विख्यात॥

(सत्त्वं रजस्तम इति······५)

ये सत्त्व व रज तम तीनों गुण उत्पन्न प्रकृति से हुए महान्।
ये देह बीच अविनाशि-जीव को नित्य बाँध लेते बलवान्॥

(तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्······६)

निर्मल होने से परम प्रकाशक निर्विकार है सत्त्व महा।
सुख और ज्ञान की संगति से निष्पाप जीव को बाँध रहा॥

(रजो रागात्मकं विद्धि······७)

आसक्ति और तृष्णा संभव रागात्मक जान रजोगुण भी।
कौन्तेय! बाँधता कर्मों में आसक्त बनाकर जीव सभी॥

(तमस्त्वज्ञानजं विद्धि……८)

अज्ञान जनित तू जान तमोगुण जीव विमोहित करे सभी।
निद्रा आलस्य प्रमादों से यह जीव बाँधकर धरे सभी॥

(सत्त्वं सुखे संजयति……९)

सतगुण सुख में व रजोगुण नर को नित्य लगाता कर्मों में।
सद्ज्ञान तमोगुण ढके लगाता सदा प्रमाद अधर्मों में॥

(रजस्तमश्चाभिभूय……१०)

रज तमो दबाकर सत्त्व बढ़े रज सत्त्व दबाकर तम बढ़ता।
तम सत्व दबाकर रंग रजोगुण का भारत! सिर पर चढ़ता॥

(सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्……११)

तन अन्तःकरण इन्द्रियों में जब ज्ञान प्रकाश कभी होता।
तब जान सत्त्वगुण बढ़ा, जहाँ नर खाता कभी नहीं गोता॥

(लोभः प्रवृत्तिरारम्भः……१२)

हो प्रवृत्ति तृष्णा लोभ व कर्मों का आरम्भ तभी होता।
कुरुनन्दन! बढ़े रजोगुण जब मानव अशान्ति पाकर रोता॥

(अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च……१३)

अज्ञान प्रमाद महा आलस्य विमोह विवश मानव होता।
कुरुनन्दन! तम के बढ़ने पर तम-मूढ़ पुरुष सब कुछ खोता॥

(यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु……१४)

यदि शुद्ध सत्त्वगुण के बढ़ने पर जीव देह तजकर जाता।
तब शुद्ध ज्ञानियों के अति निर्मल दिव्य लोक जाकर पाता॥

(रजसि प्रलयं गत्वा……१५)

रज में मर कर नर जन्म निरन्तर कर्मासक्तों में पाता।
यदि मरे तमोगुण में तब तो जड़ मूढ़ योनियों में जाता॥

(कर्मणः सुकृतस्याहुः······१६)
मुनि सुकृत कर्म का फल कहते हैं सात्त्विक निर्मल ज्ञान महान् ।
नित दुःख रजोगुण का फल है, अज्ञान तमोगुण का फल जान ॥

(सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्······१७)
सद्ज्ञान सतोगुण से पैदा होता है लोभ रजोगुण से ।
अज्ञान, प्रमाद, मोह उपजे अत्यन्त तमोगुण की धुन से ॥

(ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः······१८)
सात्त्विक स्वर्गों में जाते, राजस भू-मण्डल पर आते हैं ।
फिर महा कुकर्मी पुरुष तामसी नीच अधोगति पाते हैं ॥

(नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्······१६)
कर्ता त्रिगुणों बिन और नहीं, द्रष्टा जब देखे नित्य यही ।
त्रिगुणों से परे जानता मुझको पाता, नर कृतकृत्य वही ॥

(गुणानेतानतीत्य त्रीन्······२०)
इन देह-मूल कारण त्रिगुणों को करके पार पुरुष धीमान् ।
छुट जन्म मृत्यु से, जरा दुखों से, पाता पद निर्वाण महान् ॥

अर्जुन बोले— (कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतान्······२१)
प्रभु कैसे लक्षण वाले मानव गुणातीत कहलाते हैं ।
कैसे आचार व किस प्रकार वे त्रिगुण पार हो जाते हैं ॥

श्रीभगवान् बोले—(प्रकाशं च प्रवृत्तिं च······२२)
जो प्रकाश प्रवृत्ति व मोह मिले तो इनसे द्वेष नहीं करता ।
ये त्रिगुण कार्य फल प्राप्त न हों तो इनकी इच्छा नहिं धरता ॥

(उदासीनवदासीनो······२३)
जो उदासीन सा स्थित रहता है, विचलित हो न गुणों द्वारा ।
गुण खेल जानकर नहिं डिगता, रहता सुस्थिर सबसे न्यारा ॥

(समदुःखसुखः स्वस्थः······२४)

सुख दुख जिसको सम ढेला, पत्थर सोंना एक समान जिसे।
सम प्रिय अप्रिय जो स्वस्थ धीर निंदा स्तुति तुल्य महान् जिसे।।

(मानापमानयोस्तुल्यः······२५)

सम मान और अपमान जिसे, सम मित्र शत्रु का नाता है।
आरम्भ सभी जो तज देता, वह गुणातीत कहलाता है।।

(मां च योऽव्यभिचारेण······२६)

जो शुद्ध अनन्य भक्ति से केवल—मुझे नित्य भजता आता।
करके त्रिगुणों को पार वही नर ब्रह्म-रूप होता जाता।

(ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्······२७)

अविनाशी परम ब्रह्म मैं ही हूँ, अव्यय अमृत निधान महा।
मैं नित्य सनातन धर्म परम अतिशय आनन्द निदान महा।।

।। चौदहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ।।

पन्द्रहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले— (ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्······१)

यह ऊपर मूल व नीचे शाखा अविनाशी 'अश्वत्थ' महा।
हैं पत्र वेद जो इसे जानता, वही पुरुष वेदज्ञ कहा।।

(अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः······२)

इन त्रिगुणों द्वारा बढ़ी विषय-पल्लवमय जिसकी शाखाएँ।
फैलीं सर्वत्र अनंतों ही नीचे ऊपर दाएँ बाएँ।।
नित कर्मों के अनुसार बाँधने वाली जिसकी जड़ें महान्।
नीचे सर्वत्र मनुष्य लोक में व्याप रही हैं एक समान।।

(न रूपमस्येह तथोपलभ्यते······३)

नित खोज किये जाने पर भी जिसका कि—स्वरूप यथार्थ नहीं।
मिलता जब आदि न मध्य नहीं, क्या अन्त मिलेगा पार्थ कहीं ॥
दृढ़-मूल यही 'अश्वत्थ' इसे अति तीक्ष्ण असंग शस्त्र द्वारा।
निर्मूल छेद कर प्रभु को भज, झूठा सब जग का विस्तारा ॥

(ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम्······४)

फिर वही खोजना तुम्हें चाहिये श्रेष्ठ परम पद सर्वाधार।
प्रिय जिसमें जाकर पुनः लौटकर मिले नहीं दुखमय संसार ॥
मैं शरण उसी सर्वादि प्रभू के जो कि—दया के पारावार।
यह जिससे विस्तृत हुई पुरातन जगत्प्रवृत्ति महान् अपार ॥

(निर्मानमोहाजितसंगदोषाः······५)

जो मान मोह से रहित तथा जो संग-दोष से हीन सदा।
फिर सभी कामनाएँ तजकर अध्यात्म तत्त्व में लीन सदा ॥
इन सुख-दुख रूपी द्वंद्वों से, जो नित्य मुक्त हो जाते हैं।
सुन ऐसे ज्ञानी जन ही अव्यय परम ब्रह्म-पद पाते हैं ॥

(न तद्भासयते सूर्यो······६)

प्रिय जिसको सूर्य व चन्द्र अग्नि भी नहीं प्रकाशित कर पाते।
मम परम धाम है वही जहाँ पर जाकर लौट नहीं आते ॥

(ममैवांशो जीवलोके······७)

इस जीव-लोक में मेरा ही यह जीव सनातन अंश महान्।
मनयुत प्रकृतिस्थ इन्द्रियाँ छैः नित खींच रहा यह हंस महान् ॥

(शरीरं यदवाप्नोति······८)

धरता जब जीव देह अथवा निज देह कभी तजता भ्राता।
चलता इनको ले वायु गंध जैसे फूलों से ले जाता ॥

(श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च……९)

दृग् नाक कान रसना त्वक् मन का आश्रय लिये देह स्वामी।
उपभोग सदा करता विषयों का यही जीव अन्तर्यामी॥

(उत्क्रामन्तं स्थितं वापि……१०)

तन तज जाते को रहते को या भोग-लीन गुण-युत को भी।
नर मूढ़ नहीं जानें, ज्ञानी देखें सुगुप्त अद्भुत को भी॥

(यतन्तो योगिनश्चैनम्……११)

बहु यत्न करें योगी जन तब हृदयस्थित देखें इसे कहीं।
पर मलिनात्मा नर मूढ़ यत्न करके भी जानें इसे नहीं॥

(यदादित्यगतं तेजो……१२)

जो तेज सूर्य में स्थित होकर सब जगत् प्रकाशित करता है।
फिर चन्द्र अग्नि में भी मेरा ही तेज जान तम हरता है॥

(गामाविश्य च भूतानि……१३)

मैं भूमि प्रविष्ट हुआ जीवों को निजी शक्ति से धार रहा।
मैं सोम अमृत रसमय हो पोषण करता औषधि वर्ग महा॥

(अहं वैश्वानरो भूत्वा……१४)

मैं सब जीवो के तनगत होकर वैश्वानर जठराग्नि महान्।
मैं नित्य चतुर्विध अन्न पचाऊँ प्राण अपान युक्त भगवान्॥

(सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो……१५)

मैं ही सबके हृदयस्थित हूँ स्मृति ज्ञान अपोह मुझी से जान।
मैं वेद-वेद्य, वेदान्त-शास्त्र कर्त्ता व वेदविद् विज्ञ महान्॥

(द्वाविमौ पुरुषौ लोके……१६)

क्षर नश्वर, अक्षर अविनाशी, जग में दो यही पुरुष भ्राता।
'क्षर' हैं सब जीवमात्र जग के, 'अक्षर' कूटस्थ कहा जाता॥

(उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः······१७)

जो प्रभु परमात्मा कहलाता वह उत्तम पुरुष और ही है।
त्रैलोक्य व्याप्त अव्यय ईश्वर, जग-पोषक सभी ठौर ही है॥

(यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्······१८)

इन क्षर अक्षर दोनों से ऊपर सर्वोत्तम हूँ सर्व प्रधान।
अतएव लोक में वेदों में हूँ 'पुरुषोत्तम' विख्यात महान॥

(यो मामेवमसंमूढो······१९)

जो ऐसे मुझ—पुरुषोत्तम को पहिचानेगा नर विज्ञ महा।
सब भाँति मुझे ही भजता है, हे भारत! वह सर्वज्ञ महा॥

(इति गुह्यतमं शास्त्रम्······२०)

यह अतिशय गुप्त तुम्हें मैंने हे अनघ! सुनाया ज्ञान सखे!
यह जान ज्ञान में पण्डित हो कृतकृत्य परम कल्याण सखे!

॥ पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

सोलहवाँ अध्याय

श्रीभगवान् बोले—(अभयं सत्त्वसंशुद्धिः······१)

चित शुद्धि, अभयता नित्यमेव स्वाध्याय सुनिश्चित ज्ञान महान।
फिर तन-मन-वचन सरलता नित ही इन्द्रिय-दमन यज्ञ तप दान॥

(अहिंसा सत्यमक्रोधः······२)

अक्रोध, अहिंसा, सत्य, अनिंदा, लज्जा, मृदुता, त्याग सदा।
अति शांति, अचञ्चलता, करुणा, अति तृष्णा से वैराग्य सदा॥

(तेजः क्षमा धृतिः शौचम्······३)

हो क्षमा तेज, धृति, शौच नित्य अभिमान द्रोह से मुक्त सदा।
दैवी सम्पति में होते मानव, इन्हीं गुणों से युक्त सदा॥

(दम्भो दर्पोऽभिमानश्च······४)

अति दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, अज्ञान, कठोरपना धारे।
ये पार्थ! आसुरी सम्पति वालों में होते लक्षण सारे॥

(दैवी संपद् विमोक्षाय······५)

दे दैवी सम्पद् मोक्ष, आसुरी बन्धन निस्संकोच करे।
तू दैवी सम्पति में जन्मा है पार्थ! व्यर्थ मत शोच करे॥

(द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्······६)

हैं दो प्रकार की सृष्टि जगत् में, दैवी और आसुरी पार्थ!
यह दैवी का विस्तार कहा, अब सुनो आसुरी सृष्टि यथार्थ॥

(प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च······७)

नर असुर प्रवृत्ति निवृत्ति जानते नहीं सुकर्म कुकर्मों में।
नित शौच, सत्य, आचारहीन, आसुरनर फँसे अधर्मों में॥

(असत्यमप्रतिष्ठं ते······८)

आधार बिना, बिन ईश्वर ही, वे जग झूठा बतलाते हैं।
संयोग परस्पर के ही से जग भोग हेत जतलाते हैं॥

(एतां दृष्टिमवष्टभ्य······९)

यह दृष्टि धरे वे नष्टात्मा जग-शत्रु परम मतिमन्द सदा।
जग में जन्में जग नाश हेत, वे क्रूर कर्म-रति मन्द सदा॥

(काममाश्रित्य दुष्पूरम्······१०)

दुष्पूर काम का आश्रय ले अति मान दम्भ मद में अंधे।
वे मोह विवश हो, असद् ग्रहण कर भ्रष्ट कर्म करते गंदे॥

(चिन्तामपरिमेयां च······११)

वे मरने तक दुस्तर चिन्ता-नदियों में डूबे रहते हैं।
नित काम विषय भोगों में रत आनन्द उसे ही कहते हैं॥

(आशापाशशतैर्बद्धाः……१२)

शत आशा की पाशों में जकड़े काम क्रोध में रक्त सदा।
नित काम भोग हित अन्यायों से धन संचय में सक्त सदा ॥

(इदमद्य मया लब्धम्……१३)

यह आज मनोरथ सिद्ध हुआ, कल और सिद्ध होंगे सारे।
यह धन तो मेरा है ही, इससे अधिक और भी होगा रे ॥

(असौ मया हतः शत्रुः……१४)

यह शत्रु मार डाला मैंने, मारूँगा और जहाँ जो भी।
ईश्वर भोगी बलवान् सुखी हूँ, परम सिद्ध जो कुछ सो भी ॥

(आढ्योऽभिजनवानस्मि……१५)

श्रीमान् बड़े कुल वाला मैं जग में मेरे सम कौन महान।
मैं यज्ञ दान कर मुदित बनूँ, अज्ञान विवश यों मोहे जान ॥

(अनेकचित्तसंभ्रान्ताः……१६)

वे नित्य अनेक भ्रमों में भटके, मोह-जाल में फसें सदा।
नित काम भोग आसक्त हुए शठ घोर नरक में धसें सदा ॥

(आत्मसंभाविताःस्तब्धाः……१७)

वे आत्म-प्रशंसक नीच घमण्डी स्व-धन मान-मद-चूर महा।
करते हैं यज्ञ नाम को हो, विधि रहित ढोंग से क्रूर महा ॥

(अहंकारं बलं दर्पम्……१८)

वे परनिंदक बल, दर्प, अहंकृति, काम क्रोध वश होकर तात !
निज और पराये देहस्थित मुझसे ही द्वेष करें दिन रात ॥

(तानहं द्विषतः क्रूरान्……१९)

उन द्वेषी क्रूर अधम पुरुषों को जो निस-दिन करते परघात।
मैं नित्य गेरता उन्हें आसुरी नीच योनियों में ही भ्रात !

(आसुरीं योनिमापन्ना:……२०)

वे जन्म-जन्म नरमूढ़ योनियाँ नित्य आसुरी ही पाते।
कौन्तेय ! मुझे नहिं पाकर वे जड़ नित्य अधोगति में जाते॥

(त्रिविधं नरकस्येदम्……२१)

ये काम, क्रोध, अति लोभ जगत् में द्वार नरक के तीन महान।
ये त्याज्य इसी से सब प्रकार तीनों ही आत्म-विनाशक जान॥

(एतैर्विमुक्तः कौन्तेय……२२)

इन तीन नरक के द्वारों से जो पुरुष मुक्त हो जाता है।
निज-हित श्रेयष्कर कर्म करे फिर वही परम गति पाता है॥

(यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य……२३)

जो ठीक शास्त्र-विधि को तजकर मन चाहे कर्म करे सारे।
वह सिद्धि नहीं, सुख नहीं, परम गति कभी नहीं पाता प्यारे॥

(तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते……२४)

इससे सुन कार्य अकार्य सुनिश्चय में बस केवल शास्त्र प्रमाण।
यह समझ सु-शास्त्र विधान कथित कर कर्म तभी होगा कल्याण॥

॥ सोलहवाँ अध्याय समाप्त हुआ॥

सत्रहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— (ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य……१)

जो त्याग शास्त्र-विधि को पूजन करते हैं श्रद्धायुक्त महान्।
प्रभु ! उनकी सात्त्विक, राजस, तामस निष्ठा कौन कहो भगवान्॥

श्रीभगवान् बोले—(त्रिविधा भवति श्रद्धा……२)

श्रद्धा पुरुषों में तीन भाँति की सदा स्वभावज होती तात !
हे पार्थ ! सात्विकी और राजसी तथा तामसी सुनिये भ्रात !

(सत्त्वानुरूपा सर्वस्य......३)

श्रद्धा तो सब की होती अन्तःकरणों के अनुरूप सही।
श्रद्धामय पुरुष जान जिसकी जैसी श्रद्धा तद्रूप वही॥

(यजन्ते सात्त्विका देवान्......४)

सात्त्विक देवों को भजें राजसी यक्ष राक्षसों को यजते।
फिर नित्य तामसी पुरुष जगत् में भूत-प्रेत-गरण को भजते॥

(अशास्त्रविहितं घोरम्......५)

जो शुद्ध शास्त्र-विधि रहित घोर तप करते हैं नर-क्रूर महा।
अति अहंकार बल, दम्भ, काम, आसक्ति भाव में चूर महा॥

(कर्षयन्तः शरीरस्थम्......६)

देहस्थित पंच महाभूतों को हृदयस्थित—मुझको भी पार्थ!
जो देते कष्ट महा अज्ञानी उनको आसुर जान यथार्थ।

(आहारस्त्वपि सर्वस्य......७)

आहार सभी को प्रिय होता है, त्रिविध भिन्न रुचि से प्यारे।
यों यज्ञ तथा तप दान सभी के भेद सुनो मुझसे सारे॥

(आयुः सत्त्वबलारोग्य......८)

जो आयु, बुद्धि, बल, सुख एवं आरोग्य प्रीति वर्द्धक प्यारे।
स्थिर, हृद्य, सरस, चिकने भोजन, सात्त्विक पुरुषों को प्रिय सारे॥

(कट्वम्ललवणात्युष्ण......९)

खट्टे, कटु, रूखे, गरम तथा नमकीन व दाहक तीक्ष्ण महान्।
आहार राजसों को प्रिय हैं, नित शोक रोग दुःखद सब जान॥

(यातयामं गतरसम्......१०)

रसहीन महा दुर्गन्धित बासी, बहुत काल का पड़ा हुआ।
अपवित्र तामसों को प्यारा है भोजन झूठा सड़ा हुआ॥

(अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो······११)

फल इच्छा रहित पुरुष द्वारा कर्त्तव्य मान विधि युक्त सही।
सुस्थिर मन से जो किया जाय है सात्त्विक उत्तम यज्ञ वही ॥

(अभिसंधाय तु फलम्······१२)

जो फल इच्छा से किया जाय अथवा जिसमें हो दम्भ महान्।
हे भरतवंश अवतंस ! विज्ञ सुन यज्ञ वही तू राजस जान ॥

(विधिहीनमसृष्टान्नम्······१३)

विधिहीन व मंत्रोंहीन यज्ञ जो अन्नदान से हीन महा।
फिर श्रद्धाहीन दक्षिणावर्जित यज्ञ तामसी दीन कहा ॥

(देवद्विजगुरुप्राज्ञ······१४)

द्विज देव गुरू ज्ञानी जन पूजन शौच सरलतादिक भ्राता।
फिर नित्य अहिंसा ब्रह्मचर्य तप यही देह का कहलाता ॥

(अनुद्वेगकरं वाक्यम्······१५)

दुख हो न कभी जिनसे ऐसे प्रिय वचन व सच्चे हितकारी।
स्वाध्याय नित्य करना वाणी का तप है यही समझ भारी ॥

(मनः प्रसादः सौम्यत्वम्······१६)

मन की प्रसन्नता सौम्य-भाव नित मन का निग्रह मौनपना।
नित अन्तःकरण शुद्धि मन का तप यही कहा है पार्थ ! घना ॥

(श्रद्धया परया तप्तम्······१७)

फल-इच्छा-रहित परम श्रद्धा से योगयुक्त होकर भ्राता।
यों करते नित्य विविध तप जो नर सात्त्विक वही कहा जाता ॥

(सत्कारमानपूजार्थम्······१८)

सत्कार मान पूजा-हित हो या जो पाखण्ड लिए होता।
वह क्षणिक अनिश्चित अस्थिर तप राजस है पुण्य सुयश खोता ॥

(मूढग्राहेणात्मनो यत्······१९)

जो मूढ़पने से हठ से हो या आत्मा को कस कर होता।
या और किसी के नाश-हेत वह तप "तामस" तस्कर होता।।

(दातव्यमिति यद्दानम्······२०)

कर्त्तव्य जान जो दान देखकर देशकाल सत्पात्र महान।
हो किया अनुपकारी मानव को, दान वही सात्त्विक तू जान।।

(यत्तु प्रत्युपकारार्थम्······२१)

फल का उद्देश्य लिये अथवा बदला देने को किया गया।
वह दान राजसी कहा कि—जो मन क्लेशित करके दिया गया।।

(अदेशकाले यद्दानम्······२२)

बिन देश काल बिन पात्र दिया सन्मान रहित जो दान रहा।
अपमान सहित जो दान वही बस तामस दान कु-दान कहा।।

(ॐतत्सदिति निर्देशो······२३)

शुभ ॐ तत् सत् परम ब्रह्म का त्रिविध नाम यह कहा महान्।
सुन पूर्व काल में रचे इसी ने ब्राह्मण वेद यज्ञ भगवान्।।

(तस्मादोमित्युदाहृत्य······२४)

अतएव ॐ कहकर ही होते यज्ञ दान तप कर्म सभी।
सब ब्रह्मवादियों के होते वेदोक्त कर्ममय धर्म सभी।।

(तदित्यनभिसंधाय······२५)

फल त्याग मोक्ष इच्छुक "तत्" कहकर यज्ञ ध्यान से करते हैं।
तप और विविध दानादि क्रिया भी विधि-विधान से करते हैं।।

(सद्भावे साधुभावे च······२६)

इस "सत्" का सत्य व श्रेष्ठ भाव में नित्य प्रयोग किया जाता।
"सत्" यही शब्द उत्तम कर्मों में भी हे पार्थ! लिया जाता।।

(यज्ञे तपसि दाने च······२७)

शुभ यज्ञ तथा तप दानों में स्थिति "सत्" कहलाती तात सदा।
फिर भगवत् हेतु कर्म जो वे भी "सत्" कहलाते भ्रात सदा ॥

(अश्रद्धया हुतं दत्तम्······२८)

श्रद्धा बिन होम दान तप आदिक सभी "असत्" कहलाते हैं।
वे यहाँ न सुख मरने पर भी कल्याण नहीं दे पाते हैं ॥

॥ सत्रहवाँ अध्याय समाप्त हुआ ॥

अठारहवाँ अध्याय

अर्जुन बोले— (संन्यासस्य महाबाहो······१)

इच्छा है मुझे महाबाहो ! संन्यास तत्त्व को जान सकूँ।
फिर "त्याग" तत्त्व भी हृषीकेश ! मैं पृथक् पृथक् पहिचान सकूँ ॥

श्रीभगवान् बोले—(काम्यानां कर्मणां न्यासम्······२)

सब काम्य-कर्म का न्यास यही "संन्यास" बताते विज्ञ सभी।
सब कर्मफलों का त्याग वही है "त्याग" कहें सर्वज्ञ सभी ॥

(त्याज्यं दोषवदित्येके······३)

कुछ बुधजन कहते दोषयुक्त ही कर्म सभी हैं "त्याज्य" सदा।
शुभ यज्ञ दान तप नहीं त्यागने कुछ यों कहते प्राज्ञ सदा ॥

(निश्चयं शृणु मे तत्र······४)

इस त्याग हेतु जो मेरा निश्चय सुनो भरतसत्तम ! कर ध्यान।
हे पुरुषव्याघ्र ! अब त्याग वही सुन तीन भाँति का कहा महान ॥

(यज्ञ दान तपः कर्म······५)

शुभ यज्ञ दान तप रूप कर्म हे पार्थ ! त्यागने योग्य नहीं।
ये यज्ञ दान तप विज्ञों को भी पावन करते सभी कहीं ॥

(एतान्यपि तु कर्माणि……६)

आसक्ति और फल तजकर नित ये भी सब कर्म सदैव सही।
हे पार्थ! चाहियें करने मेरा निश्चित मत है श्रेष्ठ यही॥

(नियतस्य तु संन्यासः……७)

निज नियत-कर्म हे पार्थ! कभी भी तजने उचित नहीं आता।
यदि मोह विवश हो त्यान कभी वह तामस त्याग कहा जाता॥

(दुःखमेत्येव यत्कर्म……८)

जो कर्म, शरीर-क्लेश के भय से दुःख समझ त्यागा जाता।
वह राजस त्याग उसे करके नर नहीं त्याग का फल पाता॥

(कार्यमित्येव यत्कर्म……९)

कर्त्तव्य समझ यों नियत कर्म जो नित्य किये जाते नाना।
आसक्ति और फल तजकर अर्जुन! सात्त्विक त्याग वही माना॥

(न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म……१०)

नहिं द्वेषी अकुशल-कर्मों का जो कुशल-कर्म में सक्त नहीं।
वह त्यागी सत्त्वनिष्ठ ज्ञानी है संशय-वर्जित भक्त कहीं॥

(न हि देहभृता शक्यम्……११)

नर कभी देहधारी कोई भी सभी कर्म नहिं तज पाता।
जो कर्म-फलों का त्याग करे, बस त्यागी वही कहा जाता॥

(अनिष्टमिष्टं मिश्रं च……१२)

शुभ अशुभ और मिश्रित कर्मों का त्रिविध कर्म फल कहलाता।
वह होता सकाम पुरुषों को, पर त्यागी कभी नहीं पाता॥

(पंचैतानि महाबाहो……१३)

इन सब कर्मों के साधन में बस यही पांच कारण जानो।
सुन कहूँ सांख्य में कहे हुए सिद्धान्त सुनिश्चित हैं मानो॥

(अधिष्ठानं तथा कर्ता······१४)

आधार तथा कर्ता बहु साधन विविध भाँति न्यारे न्यारे।
फिर चेष्टा विविध विभिन्न पाँचवाँ हेतु दैव जानो प्यारे॥

(शरीरवाङ्मनोभिर्यत्······१५)

तन वाणी मन से जो कुछ भी नर कर्मारम्भ करे दिन रात।
शास्त्रोचित या विपरीप सभी के कारण यही पाँच हैं तात!

(तत्रैवं सति कर्तारम्······१६)

पर मूर्ख पुरुष जो केवल आत्मा ही को कर्ता मान रहा।
वह मूढ़-बुद्धिवश जड़ दुर्मति हे पार्थ! यथार्थ न जान रहा॥

(यस्य नाहंकृतो भावो······१७)

जो अहंकार से रहित पुरुष निर्लिप्त-बुद्धि नित युक्त सदा।
वह सकल जगत् का वध करके भी वध-बन्धन से मुक्त सदा॥

(ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता······१८)

सुन ज्ञान ज्ञेय फिर ज्ञाता तीनों यही कर्म के प्रेरक जान।
फिर कर्ता कर्म, करण ये तीनों कर्मसंग्रही जान महान॥

(ज्ञानं कर्म च कर्ता च······१९)

हैं गुण-भेदों से तीन भाँति के कर्ता, कर्म, ज्ञान भी तात!
जो सांख्य-शास्त्र में कहे हुए बस वही यथावत् सुन तू भ्रात!

(सर्वभूतेषु येनैकम्······२०)

सब भिन्न भिन्न जीवों में अव्यय-भाव देखता एक समान।
नर जिसके द्वारा वही ज्ञान तुम सात्विक जानो ज्ञान महान॥

(पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानम्······२१)

फिर जिसके द्वारा जीवमात्र नर भिन्न भिन्न देखे अनजान।
वह ज्ञान राजसी जानो जिसमें भिन्न भाव ही परम प्रधात॥

(यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्……२२)
निष्कारण ही सर्वस्व मान जो एक कार्य संसक्त महा।
निस्तत्त्व निरर्थक महा तुच्छ जो ज्ञान तामसी वही कहा॥
(नियतं सङ्गरहितम्……२३)
जो सङ्ग रहित हो नियत कर्म बिन राग व द्वेष किया जाता।
जिसमें फल आशा तज दे नर वह कर्म सु-सात्त्विक कहलाता॥
(यत्तु कामेप्सुना कर्म……२४)
सुन फल इच्छुक नर अहंकार से जो भी कर्म करे दिन रात।
जो हो अत्यन्त परिश्रम से वह राजस कर्म कहा हे तात!
(अनुबन्धं क्षयं हिंसा……२५)
परिणाम हानि हिंसा पौरुष पर ध्यान न रखते हुए सही।
अज्ञान विवश आरम्भ किया जो कर्म तामसी कहा वही॥
(मुक्तसंगोऽनहंवादी……२६)
आसक्ति रहित बिन अहंकार धीरज उत्साहपूर्ण मतिमान्।
नित सिद्धि असिद्धि समान जिसे वह कर्ता सात्त्विक कहा महान्॥
(रागी कर्मफलप्रेप्सु……२७)
सुन विषयी, लोभी, कर्म-फलेच्छुक हिंसक और अशुद्ध महा।
नित हर्ष शोक से सदा युक्त जो कर्ता राजस वही कहा॥
(अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः……२८)
अस्थिरचित, नीच, घमण्डी, शठ जो धूर्त्त दीर्घसूत्री नादान।
सत्-शिक्षा-रहित, आलसी, कर्ता नित्य विषादी तामस जान॥
(बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव……२९)
गुण-भेदों के अनुसार त्रिविध हैं, बुद्धि व धृति के भेद सभी।
अब सुनो धनंजय! पृथक् पृथक् मैं कहता हूँ सम्पूर्ण अभी॥
(प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च……३०)
जो नित्य प्रवृत्ति निवृत्ति व कार्य अकार्य व बन्धन मोक्ष यथार्थ।
भय और अभय सब जाने सात्त्विक-बुद्धि वही जानो हे पार्थ!

(यया धर्ममधर्मं च······३१)

जिससे शुभ धर्म अधर्म तथा निज कार्य अकार्य यथार्थ सही।
नर निश्चित नहीं जान पाता है बुद्धि राजसी पार्थ ! वही ॥

(अधर्मं धर्ममिति या······३२)

तमपूर्ण कु-बुद्धि अधर्मों ही को धर्म मान लेती प्यारे।
वह बुद्धि तामसी पार्थ ! अर्थ विपरीत जानती जो सारे ॥

(धृत्या यया धारयते······३३)

जिससे नर धारे सभी क्रियाएँ प्राण इन्द्रियों की मन की।
दृढ़ योग धारणा के द्वारा धृति सात्त्विक वही जान जन की ॥

(यया तु धर्मकामार्थान्······३४)

आसक्त हुआ फल इच्छुक नर जब धर्म अर्थ या काम महान।
नर जिससे धारण करे वही धृति पार्थ ! राजसी मध्यम जान ॥

(यया स्वप्नं भयं शोकम्······३५)

जिससे नर स्वप्न, विषाद, शोक, भय एवं मद को पुरुष कभी।
दुर्मति नर नहीं त्याग सकता धृति पार्थ ! तामसी जान तभी ॥

(सुखंत्विदानीं त्रिविधम्······३६)

अब सुख भी त्रिविध सुनो प्रिय मुझसे हे भरतर्षभ ! करके ध्यान।
अभ्यास योग से रमकर जिसमें दु:खों का हो अन्त महान।

(यत्तदग्रे विषमिव······३७)

जो पहिले विषवत् किन्तु अन्त परिणाम अमृतसम मधुर महा।
वह आत्म सु-बुद्धि-प्रसाद जनित सुख सात्त्विक परम अनूप कहा ॥

(विषयेन्द्रियसंयोगात्······३८)

जो विषय इन्द्रियों के सकाश से प्रथम अमृतवत् प्रिय भाता।
परिणाम किन्तु विष सम जिसका सुख वही राजसी कहलाता ॥

(यदग्रे चानुबन्धे च······३९)

सुख आदि अन्त में आत्मा को जो नित्य मोहने वाला है।
निद्रा आलस्य प्रमादजन्य सुख तामस विष का प्याला है ॥

(न तदस्ति पृथिव्यां वा……४०)
वह मुझे भूमि पर स्वर्ग बीच सब देवों में भी जचा नहीं।
इस प्रकृति जनित इन त्रिगुणों से जो नर कोई हो बचा कहीं ॥
(ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्……४१)
इन ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के कर्म कभी।
थे किये विभक्त स्वभावोत्पन्न-गुणों के ही अनुसार सभी ॥
(शमो दमस्तपः शौचम्……४२)
मन-निग्रह, इन्द्रिय-दमन, शौच तप, क्षमा, सरलता भाव महा।
विज्ञान ज्ञान, आस्तिकता, ब्राह्मण कर्म स्वभावज यही कहा ॥
(शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यम्……४३)
रण-शौर्य, तेज, चातुर्य, धैर्य, रण छोड़ भागना नहीं कभी।
ये कर्म स्वभावज क्षत्रिय के हैं दान व ईश्वर भाव सभी ॥
(कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम्……४४)
कृषि, गो-पालन, वणिज वैश्य का यही स्वभावज कर्म रहा।
नित सेवा-धर्म शूद्र का केवल यही स्वभावज कर्म कहा ॥
(स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः……४५)
हाँ निज निज कर्म-परायण मानव सिद्धि शीघ्र ही पा जाता।
निज-कर्म-निरत नर सिद्धि नित्य ही पार्थ ! सुनो जैसे पाता ॥
(यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्……४६)
जिससे उपजे सब जीव जोकि—सम्पूर्ण विश्व में व्याप रहा।
निज कर्मों द्वारा उसे पूजकर पाता है नर सिद्धि महा ॥
(श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः……४७)
निज धर्म विगुण भी श्रेष्ठ कहा, अति सुलभ रुचिर पर-धर्मों से।
नित नियत कर्म स्वाभाविक करके पाप न होता कर्मों से ॥
(सहजं कर्म कौन्तेय……४८)
हों दोषयुक्त भी कर्म स्वभावज तदपि त्यागने उचित नहीं।
कौन्तेय ! कर्म सब दोष भरे ज्यों आग धुएँ से देख यहीं ॥

(असक्तबुद्धिः सर्वत्र······४६)

निस्पृह सर्वत्र, असक्त-बुद्धि, मन वश्य किये जो रहे सही।
नैष्कर्म्य-सिद्धि उत्तम पाता, संन्यास-योग से पुरुष वही॥

(सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म······५०)

मुनि पाकर सिद्धि ब्रह्म को जैसे पाता नर कौन्तेय! महान।
संक्षेप रूप में सुनो ज्ञान की वही परानिष्ठा तू जान॥

(बुद्धया विशुद्धया युक्तो······५१)

दृढ़ धीरज से कर आत्म-सु-संयम, शुद्ध बुद्धि से युक्त हुआ।
शब्दादिक विषयों को तजकर नित राग-द्वेष से मुक्त हुआ॥

(विविक्तसेवी लघ्वाशी······५२)

निज तन, मन, वाणी संयम कर एकान्त निवासी अल्पाशी।
नित ध्यान-योग में मगनचित्त वैराग्यपूर्ण हो संन्यासी॥

(अहंकारं बलं दर्पम्······५३)

सुन अहंकार, बल, दर्प व संग्रह, काम, क्रोध से हीन सदा।
सब ममता तजकर शान्त पुरुष हो ब्रह्म-भाव में लीन सदा॥

(ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा······५४)

जब ब्रह्मभूत हो प्रसन्नमन तज इच्छा शोक परम धीमान्।
समरूप हुआ सब जीवों में नर पाता मेरी भक्ति महान्॥

(भक्त्या मामभिजानाति······५५)

मैं जितना जो हूँ, जैसा हूँ, यों मुझे भक्ति से लेता जान।
यों मुझे तत्त्व से जान मुझी में आकर मिलता भक्त सुजान॥

(सर्वकर्माण्यपि सदा······५६)

नित करता हुआ कर्म भी सारे मेरे आश्रय हो जाता।
वह भक्त मदीय कृपा से अव्यय उच्च सनातन पद पाता।

(चेतसा सर्वकर्माणि······५७)

चित से सब कर्म मुझे ही अर्पण कर मत्पर होकर प्यारे।
सम बुद्धि-योग का आश्रय ले नित चित्त मुझी में धर प्यारे॥

(मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि······५८)

मुझ में धर चित्त कृपा मेरी से दुःख दूर होंगे सारे।
यदि अहंकार वश नहीं सुनेगा शीघ्र नष्ट होगा प्यारे॥

(यदहंकारमाश्रित्य······५९)

जो अहंकार से कहता है तू "युद्ध नहीं मैं करूँ" कभी।
सब क्षात्र-स्वभाव करालेगा है निश्चय तेरा व्यर्थ सभी॥

(स्वभावजेन कौन्तेय······६०)

तू करना नहीं चाहता है, हो मोह विवश जो कर्म कभी।
बंधकर कि—स्वभावज कर्मों से कौन्तेय! करेगा कर्म सभी॥

(ईश्वरः सर्वभूतानाम्······६१)

बैठा सब जीवों के हृदयों में ईश्वर जो कहलाता है।
सब देह यंत्र आरूढ़ किये माया से वही भ्रमाता है॥

(तमेव शरणं गच्छ······६२)

तुम सब प्रकार से भारत! उसकी शरण पड़ो तर जाओगे।
सत् शान्ति नित्य पद शीघ्र उसी की कृपा-दृष्टि से पाओगे॥

(इति ते ज्ञानमाख्यातम्······६३)

अत्यन्त गुप्त यह ज्ञान सखे! मैंने तुम से सब कहा सही।
अब पूर्ण विचार करो मन से, फिर जैसा चाहो करो वही॥

(सर्वगुह्यतमं भूयः······६४)

यह परम गुप्त अति श्रेष्ठ वचन मेरे अब सुन लो तात! अभी।
त मुझे परम प्रिय है, इससे हितकर कहता हूं बात सभी॥

(मन्मना भव मद्भक्तो······६५)

मन लगा मुझी में भक्त बनो मम यजन प्रणाम करो सारे।
मैं सत्य प्रतिज्ञा करूँ मिलोगे मुझमें ही मेरे प्यारे॥

(सर्वधर्मान्परित्यज्य······६६)

तजकर सब धर्म एक मेरी ही तात! शरण में आ जाओ।
मैं तुम्हें सभी पापों से शीघ्र छुड़ा दूँगा मत घबराओ॥

(इदं ते नातपस्काय······६७)

यह ज्ञान नहीं देना अर्जुन ! तपहीन व भक्ति-विहीनों को।
सुनने की इच्छा नहीं जिन्हें या मम निन्दक नर दीनों को ॥

(य इदं परमं गुह्यम्······६८)

जो परम गुप्त यह ज्ञान कहेगा मम भक्तों में गायेगा।
वह परम भक्ति मम पाकर निश्चय जान मुझे ही पायेगा ॥

(न च तस्मान्मनुष्येषु······६९)

सुन उससे बड़ा कार्यकर्ता प्रिय मेरा जग में और नहीं।
हाँ उससे अधिक परम प्रिय मुझ को और न होगा पुरुष कहीं ॥

(अध्येष्यते च य इमम्······७०)

जो पुरुष पढ़ेगा धर्मरूप सम्वाद हमारा यही महान्।
मेरा मत है उसने पूजा मैं ज्ञान-यज्ञ द्वारा भगवान् ॥

(श्रद्धावाननसूयश्च······७१)

बिन-दोष-दृष्टि जो श्रद्धायुत, सुनता भी रहे कहीं भ्राता।
वह पुण्यवान् पुरुषों के उत्तम लोक मुक्त होकर पाता ॥

(कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ······७२)

क्या पार्थ ! सभी यह ज्ञान ध्यान से तुमने सुना कहो श्रीमान्।
वह अभी मिटा क्या नहीं तुम्हारा मोह-रूप-अज्ञान महान् ॥

अर्जुन बोले— (नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा······७३)

हे अच्युत ! कृपादृष्टि से तुम्हरी मिटा मोह सुधि हुई अभी।
मैं वचन आपका पालूँगा सन्देह दास का मिटा सभी ॥

संजय बोले— (इत्यहं वासुदेवस्य······७४)

यह सुना परम अद्भुत जिससे रोमांच खड़ा हो जाता है।
श्रीकृष्ण महात्मा अर्जुन का सम्वाद परम मन भाता है ॥

(व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान्······७५)

यह गुप्त योग योगेश्वर साक्षात् स्वयं कृष्ण ने कहा महान् ।
यह मैंने सुना स्वयं योगीश्वर व्यास-कृपा से योग प्रधान ।।

(राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य······७६)

यह केशव, अर्जुन का अति अद्भुत पुण्यरूप सम्वाद मुझे ।
नित कर कर याद हर्ष होता है, नित नूतन आह्लाद मुझे ।।

(तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य······७७)

प्रिय जब जब आता याद मुझे वह हरि का अद्भुत रूप अपार ।
तब तब आश्चर्य व हर्ष मुझे होता है राजन्! बारम्बार ।।

(यत्र योगेश्वरः कृष्णो······७८)

श्री कृष्ण जहाँ योगेश्वर हैं, श्री पार्थ धनुर्धर जहाँ कहीं ।
श्री, विजय, विभूति, सुनीति, अचल हैं मेरे मत में सदा वहीं ।।

* अठारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ *

*****



१

(कृष्णाय वासुदेवाय·····)

श्री कृष्णचन्द्र हे वासुदेव ! हरि परमात्मा परिपूरणकाम।
हे प्रणत जनों के क्लेश विनाशक श्रीगोविन्द प्रणाम प्रणाम ॥

श्रीकृष्ण तुम्हारी आँखों में

२

आनन्दधाम अव्यक्त निरञ्जन चित्स्वरूप अज अविनाशी।
श्रीजगन्निवास अनन्त अनामय हृषीकेश सद्गुणराशी ॥
नित निर्विकार बिन-नामरूप भी, अद्वितीय घट घट वासी।
वह अनघ अनीह निरीह ईश भी बन बैठा लख चौरासी ॥
उस विश्वरूप विश्वम्भर को 'ध्याता है' कोई लाखों में।
वह प्रभु गोतीत नयन का तारा कृष्ण तुम्हारी आँखों में ॥

३

वह काल-कराल-चाल जिसकी करती कमाल बेहाल कभी।
नर देव दैत्य कंगाल धनी वाचाल मूक भूपाल सभी ॥
इन सबको धरे गाल में जो, गलती उसकी भी दाल नहीं।
वह बाल न बाँका कर सकता यदि रक्षक हो 'गोपाल' कहीं ॥
वह निज जन का परिपालक है, 'धाता है' वो ही लाखों में।
वह आत्मरूप घट घट पुरवासी कृष्ण तुम्हारी आँखों में ॥

४

घनश्याम घटा सम देह छटा कमनीय परम प्रिय काली हो।
मृदु चिकने गोल कपोलों पर अलकावलि घूँघर वाली हो ॥
फिर मधुर अधर पर मुरली की मन मोहनि तान निराली हो।
हे कुञ्जबिहारी ! तन उपवन के एक तुम्हीं बनमाली हो ॥
हम को मनमोहन रूप 'विमल' भाता है वो ही लाखों में।
अति दिव्य माधुरी भरी हुई है कृष्ण तुम्हारी आँखों में ॥

५

अति मधुर मधुर मुसकान भरी प्रिय चितवनि श्याम तुम्हारी हो।
कानन कल कुण्डल मोर मुकुट छवि पीताम्बर की न्यारी हो॥
फिर कोटि काम सम तन की शोभा सँग वृषभानु दुलारी हो।
यह ध्यान आपका मेरे मन में निसदिन कृष्णमुरारी हो॥
धर ध्यान गीत यों नटवर के 'गाता है' कोई लाखों में।
तव नाम मधुर रसना पर हो, तुम कृष्ण हमारी आँखों में॥

६

हे नँदलाल प्राण के प्यारे मनमोहन श्रीकृष्ण मुरारे!
रसना निसदिन यही उचारे नाथ यशोदा नन्द दुलारे!
हे कृष्ण! अघारे ब्रज रखवारे शीघ्र हरो सब पाप हमारे।
यदुनन्दन तव दर्शन करके भव-बन्धन कट जाँय सुखारे!
दृढ़ भक्ति दीजिए वही जहाँ 'जाता है' कोई लाखों में।
तव ध्यान बसे चित में नित ही, तुम कृष्ण हमारी आँखों में॥

७

दो भक्ति मुझे पद-कमलों की मैं दास प्रभो! तुम स्वामी हो।
मैं मूढ़ पुत्र, सर्वज्ञ पिता तुम स्वामी अन्तर्यामी हो॥
हे नाथ! बचाओ नित भटका विषयों में निस-दिन कामी हो।
हे कृष्ण! हमारा क्या बिगड़े? बस प्रभो! तुम्हें बदनामी हो॥
दो 'विमल' भक्ति जग में केवल 'नाता' है वो ही लाखों में।
हम कृष्ण तुम्हारी आँखों में, तुम कृष्ण हमारी आँखो में॥

नर जीवन सफल बनाने को 'योगेश्वरवाणी' पढ़ियेगा।
फिर कर्म-भूमि में 'विमल' कर्म करने को आगे बढ़ियेगा॥